तृतीय अध्यायः
बालमुकुंद गुप्तः व्यक्तित्व एवं प्रतिरोध का स्वर

3.1 बालमुकुंद गुप्त : एक परिचय

3.2 शिवशंभु के चिट्ठों में जातीय चेतना

3.3 भारतमित्र और सामाजिक जागरण

3.4 भाषा चिंतन : अनस्थिरता विवाद

अध्याय तृतीय
बालमुकुन्द गुप्तः व्यक्तित्व एवं प्रतिरोध का स्वर

3.1 बालमुकुंद गुप्तः एक परिचय

जीवन परिचय :

वर्तमान हरियाणा प्रदेश में रेवाड़ी जिले का एक छोटा सा गाँव गुडियानी अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। पूर्वकाल में यह गाँव पंजाब प्रान्त, रोहतक जिले कस्बा झज्जर के अन्तर्गत पड़ता था। इसी झज्जर कस्बे के नवाब 'अब्दुर्रहमान खान' को अंग्रेजों ने 1857 की क्रान्ति में लड़ने के कारण विद्रोही घोषित कर दिया था।

गुड़ियानी ग्राम रेवाडी से हिसार जाने वाली रेलवे लाईन पर जाटूसाना रेलवे स्टेशन से दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इसी ग्राम में हिंदी पत्रकारिता के सूत्रधार बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म हुआ। श्री मदन गोपाल के अनुसार- ''गुप्त के आरंभिक काल में इस गांव की आबादी थोडी ही थी। गांव में दो प्रमुख जातियों के लोग रहते थे। बहुसंख्यक तो पठान (अफगान) थे जो घोड़ों का व्यापार करते थे और अल्पसंख्यक महाजन लोग थे जो वाणिज्य और सूद का धन्धा करते थे। पठान व्यापारी अपने बच्चों को उर्दू और फारसी की शिक्षा के लिए मक़तब भेजते परन्तु महाजन लोगों में शिक्षा का प्रचार नहीं था। बालमुकुन्द गुप्त गांव में अपनी जाति के पहले बालक थे जिनकी शिक्षा उर्दू और फारसी में हुई।''[1]

बालमुकुन्द गुप्त का जन्म 14 सितंबर सन् 1865 ई0 को लाला पूरणमल के घर में हुआ। इनके पूर्वज डीघल (रोहतक) से आकर आजीविका के लिए यहाँ बसे थे। इनके दो छोटे भाई और दो छोटी बहने थीं। दस वर्ष की अवस्था में सन् 1875 में इन्हें गाँव के मकतब भेजा गया। जहाँ से उन्होंने उर्दू-फारसी की शिक्षा पाई। विलक्षण प्रतिभा के धनी बालमुकुंद गुप्त ने जिला स्तर पर होने वाली पाँचवी कक्षा अच्छे स्तर

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.7

से पास की। इनके अध्यापक ने इनके पिता लाला पूरणमल को बालक बालमुकुन्द गुप्त को आगे पढ़ाने के लिए प्रेरित किया। परन्तु इनके पिताजी कुछ सोच पाते उससे पहले ही मात्र चौंतीस वर्ष की अवस्था में सन् 1879 में इनका निधन हो गया। कुछ दिनों बाद ही इनके दादा गोरधन दास का भी निधन हो गया। परिवार को संभालने की जिम्मेदारी चौदह वर्षीय बालक बालमुकुन्द गुप्त पर आ पड़ी। परन्तु परिस्थितियों से हार माने बिना इन्होंने अपना सारा ध्यान अध्ययन को छोड़कर पैतृक व्यवसाय में लगाया। सन् 1880 में रेवाड़ी के व्यापारी छाजूराम की पुत्री अनारो देवी से इनका विवाह हुआ। इसी बीच स्वाध्याय के बल पर 1886 में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। इससे आगे इन्होंने कोई शैक्षणिक योग्यता तो नहीं हासिल की परन्तु स्वाध्याय के बल पर बंगला, संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। गुप्त जी इन भाषाओं में अपेक्षित योग्यता के स्तर तक केवल अपने स्वाध्याय के बल पर पहुँचे थे। उर्दू पत्रकारिता से अपना साहित्यिक जीवन का आरंभ बालमुकुंद गुप्त ने अपने गुरु मुंशी वजीर मुहम्मद खान तथा मुंशी बरकत अली खान की प्रेरणा से किया। 'शाद' (आनन्द) उपनाम से इनकी उर्दू नज्मे पद्यपरक मासिक पत्र 'गुलदस्तों' में पढ़ी जाती थी। इसके अतिरिक्त अवध पंच, मथुरा अखबार, जमाना, भारत प्रताप आदि उर्दू अखबारों में इनकी रचनाएँ बहुत अधिक प्रसिद्ध हुई। ''उनकी कविताएँ और लेख (उपनाम था मि0 हिंदी) 'अवध पंच' में तो प्रकाशित होते ही थे। 'उर्दू-ए-मुअल्ला', 'रहबर' और 'विक्टोरिया गजट' में भी छपते थे। उर्दू पत्रकारिता में उनका खासा नाम था।''[1]

झज्जर के पं. दीनदयालु शर्मा के परामर्श पर गुप्त जी ने 1886 ई0 में चुनार से प्रकाशित 'अखबारे चुनार' का सम्पादन स्वीकार किया। 1888 ई0 में 'कोहेनूर' जो लाहौर से प्रकाशित होता था, उसके सम्पादक बने। 1886 से 1889 तक उर्दू पत्रों का सम्पादन किया।

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.11

1889 ई0 में 'भारत धर्म महामंडल' के द्वितीय अधिवेशन वृन्दावन में उर्दू सम्पादक की हैसियत से इनकी मुलाकात हिंदी अखबार 'हिन्दोस्थान' के सम्पादक मदन मोहन मालवीय जी से हुई। मालवीय जी एक ही नजर ही में इनकी प्रतिभा का भांपकर इन्हें 'हिन्दोस्थान' के संपादकीय मंडल में ले गए। इस प्रकार हिन्दी पत्रकारिता में इनका आगमन हुआ।

'हिन्दोस्थान' से इनका संबंध 1889 ई0 से फरवरी 1891 ई0 तक रहा। इसके बाद 1893 ई0 से 1898 ई0 तक 'हिंदी बंगवासी' में सम्पादन कार्य किया। 16 जनवरी 1899 ई0 से 2 सितम्बर 1907 तक 'भारत मित्र' को नई बुलंदियों तक पहुँचाया। 'हिन्दोस्थान' और 'हिंदी बंगवासी' को छोडने का कारण इनका स्वाभिमान रहा है। अंग्रेजों के विरुद्ध प्रखर रुप में लिखने के कारण इन्हें 'हिन्दोस्थान' के संपादक मंडल से बाहर होना पड़ा। 'भारत मित्र' में प्रकाशित 'शिवशम्भु के चिट्ठे' अंग्रेजों की क्रूर नीतियों का कच्चा चिट्ठा था। इनकी पत्रकारिता में व्यंग्य की तीखी धार थी, तो हास्य का पुट भी था। यही इनकी शैली की विशेषता थी। टेसू और जोगीड़ा के माध्यम से लोकगीतों को नया रंग दिया। भक्ति के साथ देशभक्ति का मिश्रण किया।

'भारतमित्र' से गुप्त जी का संबंध 2 सितम्बर सन् 1907 तक का रहा। अस्वस्थ होने के कारण जलवायु परिवर्तन की इच्छा से वैद्यनाथ धाम गए परन्तु कोई लाभ न होता देख आने गांव गुड़ियानी वापस जाने का मन बनाया। रास्ते में 18 सितम्बर सन् 1907 को दिल्ली में लाला लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला में इन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार पत्रकारिता के क्षितिज पर अनुप्राणित करने वाला प्रकाश बिखेर कर दिव्य नक्षम सदा-सदा के लिए प्रणाम कर गया।

व्यक्तित्व

बाह्य व्यक्तित्वः-

गुप्त जी की वेशभूषा में सादगी और शिष्टता थी। इनकी वेशभूषा सामान्य होती थी। बचपन में सामान्य बालकों की तरह धोती कुर्ता ओर टोपी पहनते थे। ''डॉ. नत्थन सिंह ने उनके विषय में लिखा है कि, ''उनका शरीर माँसल तथा पुष्ट था। उनका मुख मंडल प्रभावशाली तथा चेहरा गोल और भरा हुआ था। रंग गोरा गेहुंआ, आँखें बड़ी मस्तक चौड़ा तथा गर्दन ऊँची थी। कुल मिलाकर उनका बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक तथा प्रभावशाली था।''[1] शरीर पर ढीला कुर्ता, धोती, गले में साफी, सिर पर मारवाड़ी शैली की पगड़ी बाँधते थे। परन्तु 'भारतमित्र' के संपादक बनने के समय में पगड़ी की जगह गोल फ्लैट कैप तथा बन्द गले का पहनने लगे। गले की साफी सिल्क की हो गयी थी जो घुटनों तक होती थी तथा मस्तक पर चंदन का टीका लगाते थे।

गुप्त जी वैष्णव धर्म के नियमों का पालन करते थे। रोज गंगा स्नान करना, नियमित रुप से गीता तथा विष्णु सहस्त्रनाम का पाठ करना, नीचे बैठकर भोजन करना, संध्या को भ्रमण, ईश्वर प्रार्थना, अन्य धार्मिक कार्य करना, शाम को शीघ्र भोजन करना और 10 बजे तक सोने के लिए जाना उनकी दैनिक क्रिया थी।

आन्तरिक व्यक्तित्वः-

एक तरफ तो बालमुकुन्द गुप्त सनातन धर्म में दृढ़ विश्वास रखते हैं, वहीं दूसरी तरफ देशभक्ति से परिपूर्ण कट्टर राष्ट्रवादी दिखाई देते हैं। इनके जीवन की कई घटनाओं से इनके विनोदप्रिय होने का परिचय मिलता है। रामकुमार गोयनका के संस्मरण 'गुप्त जी की बातें' और पं. सकल नारायण मिश्र के संस्मरण 'परिहास प्रिय गुप्त जी' से इनके विनोदप्रिय होने का प्रमाण मिलता है। चाटुकारिता से इन्हें विशेष घृणा थी। 'पंजाब में लायल्टी' कविता चाटुकारों पर व्यंग्य है। स्वाभिमानता उनके खून में थी। जनहित और देश हित में कार्य करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। पाश्चात्य

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.22

संस्कृति के घोर विरोधी थे। उग्र राष्ट्रवादी होने के कारण साम्राज्यवाद विरोधी थे। सामाजिक विचारों में भारतीय संस्कृति के पक्षधर होते हुए पुरातनवादी कहे जा सकते हैं, परन्तु राष्ट्रीय विचारों में अपने समय से बहुत आगे निकले हुए थे।

''उनके व्यक्तित्व के दो अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष थे- एक देशभक्ति और दूसरा मानव कल्याण। राष्ट्रहित के लिए वह हिंदू-मुस्लिम एकता अनिवार्य समझते थे। होली तथा ऋतुओं पर टिप्पणी लिखते हुए वह देशहित का विस्मरण नहीं कर पाते और न नागरी अक्षरों का समर्थन करते हुए हिंदू-मुस्लिम एकता को।''[1]

नवजागरण की जिस भावना का उदय भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने किया था उसी को आगे बढ़ाने का कार्य 'बाबू बालमुकुन्द गुप्त' ने किया। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीयता का उद्घोष सुनाई पड़ता है। 'बाबू बालमुकुंद गुप्त' पर शोध कर चुके 'डॉ. राजेन्द्र सिंह' का कहना है- ''भारत के गौरव की पुनर्स्थापना का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ही उनके जीवन का परम एवं चरम प्राकाम्या था। देशवासियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त उनका एकमात्र उद्देश्य था, क्योंकि वे स्वदेश भावना को और स्वेदश हित की ही कामना को ही परम धर्म मानते थे। अपने 'भारतमित्र' के द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय उत्थान में सर्वतोभावेन योगदान दिया।''[2]

युगीन रचनाकारों में बालमुकुन्द गुप्त में राष्ट्रीय भावना का स्वर सबसे अधिक मुखर दिखाई पड़ता था। चाहे 'शिवशम्भु के चिट्ठे' हो या फिर 'बंग विच्छेद' स्वदेशी आंदोलन आदि। देश स्थिति का यथावत् वर्णन करना 'गुप्त जी' की राष्ट्रीय भावना का ही एक ही पहलू है। अंग्रेज, भारतीयों की राष्ट्रीयता को कुचलने के लिए उन पर क्या-क्या अन्याय कर रहे थे इसका वर्णन गुप्त जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है। देश, विदेश में होने वाली घटनाओं पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करते थे।

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.26

2 डॉ. राजेन्द्र सिंह, बालमुकुंद गुप्त और उनके युग का साहित्य, कवि सभा दिल्ली, शाहदरा, दिल्ली, 1996, पृ.115

राष्ट्रीय चेतना से भरपूर लेख लिखने के कारण गुप्त जी को उर्दू पत्र 'अखबारे-चुनार' और हिंदी पत्र 'हिन्दोस्थान' छोड़ना पड़ा। 'गुप्त जी' ने उन देशभक्तों के बारे में भी लिखा है, जिन्होंने राष्ट्रीयता के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। देशभक्तिपूर्वक लेखों के कारण जेल में जाने वाले सम्पादकों की हालात पर भी लिखा। 'बालमुकुन्द गुप्त' के उग्र लेखों से राष्ट्रीयता की तीव्र लहर फैल गई। बालमुकुंद गुप्त अपने युग के प्रतिबिम्ब थे। डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र का कहना है- ''गुप्त जी चूँकि युग चेतना के प्रति सचेत थे और उनकी जातीय निष्ठा बलवती थी, इसलिए स्वाभाविक था कि उग्र राष्ट्रीयता ही पत्र की नीति बने।''[1]

अंग्रेजों ने भारत में सुशासन का ढिंढोरा पीटा। बहुत से लोगों ने इसका समर्थन भी किया। परन्तु गुप्त जी इस भ्रम से सदैव दूर रहे और अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों को भी जागरूक करने का प्रयास किया। भारत और भारतीयता के प्रश्न को सैनिक की तरह उठाया। उन कारणों का निराकरण करने का प्रयास किया जो राष्ट्रहित के विरोध में पड़ते थे।

'गुप्त जी' के व्यक्तित्व का मुख्य गुण स्वाभिमानता रहा है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी, इन्होंने इस गुण का त्याग नहीं किया। गुप्त जी आत्म-सम्मान और आत्म-निर्भरता को राष्ट्रीयता का प्रमुख गुण मानते थे। हिंदी बंगवासी जब गलत राह पर चला तो इन्होंने स्वाभिमान का परिचय देते हुए उसे छोड़ दिया। 'भारतमित्र' का सम्पादक बनने से पूर्व भी इन्होंने उसके मालिक से वचन लिया था, कि वे इनके कार्य में दखल नहीं देंगे। एक भरे-पूरे परिवार की पोषण की जिम्मेवारी होते हुए भी इन्होंने स्वाभिमान से कभी समझौता नहीं किया। बालमुकुंद गुप्त के परम मित्र पं. दीनदयालु शर्मा की लोकप्रियता का हिंदी बंगवासी फायदा उठाना चाहता था। ''उन दिनों सुप्रसिद्ध हिंदी वक्ताशिरोमणि पण्डित दीनदयालु जी से कुछ अनबन हो जाने से 'हिंदी बंगवासी' में उनका विरोध करना निश्चय हुआ था। उस समय बाबू बालमुकुंद गुप्त को 'हिंदी

---

1 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ.255

बंगवासी' से जो आर्थिक सहायता दी जाती थी, वह हिंदी पत्रों की उस प्रारम्भिक दशा में अल्प ही हिंदी लेखकों को मिलती रही होगी। बाबू बालमुकुंद गुप्त के परिवार पालन के लिए धन की बड़ी भारी आवश्यकता रहने पर भी उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की और स्पष्टतया कह दिया कि पण्डित जी से मेरी मित्रता बडी घनी है, 'हिंदी बंगवासी' से उनकी विरुद्धता होने से मुझे उसकी सेवा से अलग होना पड़ेगा।''[1]

इनकी स्वाभिमानता और ईमानदारी का एक परिचय हमें तब मिलता है जब 'श्री वेकंटेश्वर समाचार' के मालिक ने इन्हें 'भारतमित्र' छोडने और अपने समाचार पत्र में आने के लिए दोगुने वेतन का लालच दिया तो अपने मित्र पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल से गुप्त जी ने कहा है, ''गरियार बैल घुमाकर जोता जाता है।''[2] इनका स्वाभिमान केवल स्वयं का स्वाभिमान नहीं था देश और देशवासियों को सम्मान भी उन्हें उतना ही प्रिय था। लॉर्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए भाषण में पूर्व के लोगों को मिथ्यावादी तथा सत्य का अनादर करने वाला कहा था। इस स्वाभिमानी-देशभक्त पत्रकार ने इसका विरोध 'शिवशंभु के चिट्टे और खत' के माध्यम से दिया। ''यह देश भी यदि विलायत की भांति स्वाधीन होता और यहाँ के लोग ही यहाँ के राजा होते, तब यदि अपने देश को यहाँ के लोगों से अधिक सच्चा साबित कर सकते थे तो आपकी अवश्य कुछ बहादुरी होती। स्मरण करिए, उन दिनों को कि जब अंग्रेजों के देश पर विदेशियों का अधिकार था। उस समय आपके स्वदेशियों की नैतिक दशा कैसी थी, उसका विचार तो कीजिए। यह वह देश है कि हजार साल पराये पाँव के नीचे रहकर भी एकदम सत्यता से च्युत नहीं हुआ है।''[3]

निर्भीकता उनकी लेखनी का विशेष गुण रहा है। इन्होंने जो भी लिखा निडर होकर लिखा। उस समय के बहुत से पत्रकार राजभक्ति की चाश्नी में डुबोकर अपनी

---

1 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली 1985, पृ.254

2 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.67

3 (सं.) कृष्णदत्त पालीवाल, बालमुकुंद गुप्तः संकलित निबंध, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2014, पृ. 21-22

रचनाएँ लिखते थे, परन्तु इन्होंने खुल्लम-खुल्ला, बेधडक, निड़रता से अपनी रचनाओं को वाणी दी। चाहे वह 'शिवशम्भु के चिट्टे' हो, चाहे 'शाइस्ता खां का खत फुलर साहब के नाम' बंग-भंग विरोधी लेख हो, राष्ट्र भाषा हिंदी के समर्थन की रचनाएँ, टेसू या जोगीड़ा के माध्यम से लिखी गई कविताएँ सभी में निर्भीकता का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। इसी कारण से इन्हें अपने जीवन में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु होने के कारण परिवार की जिम्मेवारियों से रुबरु होना पड़ा। परन्तु इन्होंने हार नहीं मानी। अपनी निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता के कारण ही वे उस समय के दिग्गज महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी जवाब देने में पीछे नहीं हटे। मारवाडियों की विशेषताओं के साथ-साथ उनकी सीमाओं को भी रेखांकित किया। कलकत्ता के विकास में मारवाड़ियों के योगदान को सराहा, तो उनकी अज्ञानता के प्रति रोष भी प्रकट किया। आलोचना करते समय भी वे निष्पक्ष ही रहे। उन्होंने कृति के आधार पर उसके गुण-दोषों का निरुपण किया, व्यक्ति के आधार पर नहीं। दूसरों के भी ऐसा करने की सलाह देते थे। एक बार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनकी पुस्तक 'खिलौना' की आलोचना बगैर लेखक का नाम जाने की, परन्तु पता चलने पर उनसे क्षमा याचना की तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है- ''जो चीज छापकर बेची जाती है उस पर कोई आलोचना करे तो अनुचित क्या है। खिलौना पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है, दुःख नहीं। ऐसी बातों का ख्याल मुझे नहीं होता..... (मैंने) आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करुँ। पर शर्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे। जबरदस्ती किसी का दोष दिखाना मेरी आदत नहीं।''[1]

गुप्त जी ने अंग्रेजों के अत्याचारों, शानो-शौकत, अपव्यय, कर-टैक्स, अकाल, गरीबी के कारण भारतीय प्रजा की दुर्दशा का खुलकर निर्भीकता से विरोध किया है। भारतीय प्रजा के दुःख-दर्द को गुप्त जी सहज अनुभव करते और उनके प्रति

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.41

सहानुभूति व्यक्त करते थे। उनकी लेखनी देशवासियों के दुःख, दर्द को दूर करने का सतत् प्रयास करती रही है।

बालमुकुंद गुप्त वैष्णव धर्म में आस्था रखने वाले थे। हिंदू धर्म में उनकी परम आस्था थी। परन्तु आडम्बर रहित साधना ही उन्हें प्रिय थी। इसी साधना का उन्होंने ताउम्र पालन किया। ''बालमुकुंद गुप्त सनातन धर्म के अनुयायी थे, वैष्णव और शाकाहारी। सवेरे नहा-धोकर माथे पर तिलक अवश्य लगाते। ठाठ-बाट और आडम्बर के विरुद्ध थे।''[1] श्री भारत धर्म महामंडल की सभाओं में अक्सर भाग लेने जाया करते थे। इसका एकमात्र उद्देश्य हिंदुओं को एक मंच पर इकट्ठा करना था। इसमें हिन्दुओं के विभिन्न मतावलंबियों को एक मंच पर उसी तरह एकत्रित करना था, जिस प्रकार कांग्रेस ने राजनीतिक प्लेटफार्म पर एकत्रित किया था। सनातन धर्म और हिंदी के प्रचार के लिए अपने मित्र दीनदयाल शर्मा के साथ मिलकर भाषणों की व्यवस्था करते। वाणी शर्मा जी की होती थी, परन्तु लेखनी इनकी चलती थी। विभिन्न पत्रों में भी इन्होंने धार्मिक लेख लिखे। परन्तु इनका धार्मिक होना सांप्रदायिक होना नहीं था। अपने धर्म में इनकी पूर्ण निष्ठा थी, परन्तु अन्य धर्मों का ये पूर्ण आदर करते थे। अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए इन्होंने ताउम्र तक कार्य किए।

परिस्थितियों ने गुप्त जी को विधिवत् अध्ययन करने का अवसर नहीं दिया। पारिवारिक परिस्थितियों के चलते पांचवीं कक्षा से आगे की पढ़ाई नहीं कर पाए। परन्तु स्वाध्याय के बल पर 21 वर्ष की आयु में मिडिल परीक्षा पास की। परन्तु इससे पूर्व इन्होंने अपने गुरु के मार्गदर्शन में कविता, नज़्में (उर्दू) लिखना आरम्भ कर दिया था। शाद (आनन्द) के उपनाम से इनकी नज़्में झज्जर के मुशायरों में पढ़ी जाती थी और इनकी खूब वाहवाही होती थी। आगे इन्होंने गुलदस्ता, अवध-पंच, उर्दू-ए-मुअल्ला, रहबर, विक्टोरिया गजट आदि में अपनी रचनाएँ भेजी। उर्दू पत्रकारिता से अपनी साहित्यिक जीवन की शुरुआत की फिर हिंदी पत्रकारिता में आए।

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.22

गुप्त जी आरम्भ से ही अध्ययनशील थे, उर्दू के विभिन्न लेखकों को पढ़कर ही इन्होंने लिखना आरम्भ किया। इनकी शिक्षा का माध्यम भी उर्दू-फारसी था। वे प्रायः विभिन्न भाषाओं के अखबार पढ़ते थे, जो वे जानते थे। स्वाध्याय के बल से ही उन्होंने हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला जैसी भाषाएँ सीखी। 'हिन्दोस्थान' के संपादक मंडल में रहते हुए इन्होंने इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। 'हिन्दोस्थान' से जाने के बाद अपने ग्राम गुड़ियानी में रहकर अपने मित्र श्रीधर पाठक से अंग्रेजी सीखी और उन्हें उर्दू सिखाई। इनकी अध्ययन शीलता का ही परिणाम था कि इन्हें उस समय के नामी उर्दू और हिंदी के पत्रों का संपादक बनने का अवसर मिला। गुप्त जी ने समालोचना के लिए बहुत सी हिंदी पुस्तकों को पढ़ा। वे बड़े ध्यान से पुस्तक पढ़ते थे चाहे वह आलोचना के लिए हो या अनुवाद के लिए या फिर इतिहास लेखन के लिए। दूसरों द्वारा लिखे गए लेखों, अनुवाद कार्यों, आलोचना को भी वे पैनी दृष्टि से देखते थे। अध्ययन करने में वे पूरी-पूरी रात बिता देते थे।

गुप्त जी के जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक संघर्ष आते और जाते रहे। परन्तु इन्होंने न तो परिस्थितियों से हार मानी और न ही संघर्ष से। मडेल भगिनी का जब उन्होंने अशुद्ध अनुवाद देखा तो उसके संपादक तक यह संदेश पहुँचाया कि यह भाषा का रूप बिगाड़ रहे हैं। स्वयं जब अनुवाद करके दिया तो उसकी बहत प्रशंसा हुई। जिस कार्य को गुप्त जी हाथ में ले लेते थे, उसे पूरी तन्मयता से पूरा करते थे। 1902 में रत्नावली का अनुवाद करने का बीड़ा उठाया, तो समयाभाव के कारण अच्छा काम नहीं कर सके, छपाई भी खराब हुई। परंतु फिर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उस अनुवाद की प्रशंसा की। परन्तु ये स्वयं संतुष्ट नहीं थे। इसलिए दोबारा से अनुवाद करने की ठानी। ''शुद्धिकरण के लिए अपने सामने दो संस्कृत, दो बांग्ला, दो ही हिंदी के संस्करण रखे, कविता का जो बहुत सारा अंश छूट गया था उसे संयोजित किया। पुस्तक को शुद्ध और सरल बनाने की चेष्टा की।''[1]

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.45-46

'गुप्तजी' अपने पाठकों से बहुत प्रेम करते थे। पाठकों को वे भगवान स्वरुप समझते थे। ''भारतमित्र का कार्यभार सम्भालने पर 'गुप्तजी' ने बंगवासी की प्रतिवर्ष पाठकों को एक पुस्तक उपहार के तौर पर देने की परम्परा को भी अपनाया। उन्होंने अष्टछाप के कवि नन्ददास की 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमर गीत' की प्रमाणित प्रतियाँ उपलब्ध कर और उनका संपादन कर पाठकों को उपहार के रुप में दी। आगे चलकर गुप्त जी ने अब्दुर्रहीम खानखाना द्वारा लिखित 'अकबरनामा' और 'मुंशी देवीप्रसाद' द्वारा लिखित 'जहाँगीरनामा' और 'हुमायूँनामा' की प्रतियाँ भी उपहार में दी। ऐसे ही एक हजार पन्ने की 'हिंदी भागवत' भी दी गई।''[1] गुप्त जी का विचार था कि पाठकों को तथ्य से अवगत कराना प्रत्येक संपादक का कर्त्तव्य होता है। इसलिए इन्होंने जो भी लिखा सत्य और प्रमाणिक लिखा। हैदराबाद के दीवान 'गुप्त जी' के बडे प्रशंसक थे। इन्होंने 'गुप्त जी' को बुलाया। परन्तु 'गुप्त जी' ने कहलवाया कि मेरे लिए जो पाठक दो पैसे का 'भारतमित्र' पढ़ता है वही महाराज कृष्ण प्रसाद (हैदराबाद के दीवान) हैं। यदि उन्हें मुझे जानना है तो दो रुपये मासिक देकर 'भारतमित्र' का ग्राहक बने और पढें।

शिष्टता 'गुप्त जी' के स्वभाव में थी। चाहे वाद-विवाद हो या फिर आलोचना इन्होंने शिष्टता का दामन कभी नहीं छोड़ा। व्यवहारिक रुप से ये आचार्य द्विवेदी का आदर करते थे। परन्तु सैद्धान्तिक रुप से जहाँ इन्हें कुछ गलत लगा, उसे इन्होंने शिष्टता से टोक दिया। द्विवेदी जी के समर्थकों ने इनके वंश-वर्ण तक पर आक्रमण किया था, जिससे द्विवेदी जी बहुत रूष्ट हुए थे। परन्तु इन्होंने अशिष्ट व्यवहार कभी नहीं अपनाया। अपने व्यवहारिक और सैद्धान्तिक जीवन को अलग-अलग रखा। हिंदी बंगवासी से इस्तीफा देने के बाद जब उन्हें 'भारतमित्र' से निमन्त्रण आया तो उन्हें एक दफ्तर से दूसरे में जाना अखरा। इसलिए पहले वे अपने गाँव गए और वहीं से निमंत्रण स्वीकार किया। अन्य पत्रों के निमंत्रण भी उन्होंने अपने ग्राम से ही स्वीकार

किए। ''गुप्त जी व्यवहार में शिष्टता पर बड़ा जोर देते थे। जो बात उन्हें अखरती वह साफ-साफ कह देते।''[1]

'गुप्त जी' विनोदी प्रवृत्ति के इंसान थे। बातों ही बातों में हँसी की फुलझडियाँ छोड़ते रहते थे। यही प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में भी दिखाई पड़ती है। बचपन से ही उपहास प्रिय घटनाएँ उनके जीवन की दिखाई पड़ती हैं। एक बार स्कूल के साथियों के सहयोग से 'गुप्त जी' ने स्कूल की छत पर ऊँट चढ़ा दिया था। छत पर ऊँट देखते लोग हँसते रहे, परन्तु ऊँट मालिक परेशान हो गया। फिर इन्होंने दीवार के सहारे पूलिया लगाकर ऊँट को उतारने की तरकीब बताई। 'रामकुमार गोयनका' के संस्मरण 'गुप्तजी की बातें' में उनकी उपहास प्रियता का उदाहरण मिलता है। कलकत्ता में इनके किसी जानकार के घर पर संगीत सभा का आयोजन था। भीड़ अधिक थी, तभी इनके मित्र छोटेलाल मिश्र बाहर से कमरे में बैठने के लिए झाँकने लगे तो इन्होंने कहा, ''चले आइये महाराज! हम हिंदुस्तानी तो रबड़ के होते हैं, सिकुड़े जाते हैं। इतना कहना था कि समस्त वातावरण हास्य में डूब गया।''[2] ये अपनी रचनाओं को विनोदपूर्वक वृतांतों के बीच में लपेटकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे। शिवशम्भु के चिट्ठे, आत्माराम के लेख, फुलर के खत, टेसू-जोगीड़ा की कविताएँ, पॉलिटिकल होली आदि रचनाएँ उदाहरण हैं।

वर्तमान युग में जब हिंदी-उर्दू का अंतर साम्प्रदायिक स्वरुप धारण कर गया है तो आवश्यकता है 'गुप्त जी' के उन मूल्यों को पहचानने की जो उन्होंने हिंदी और उर्दू के संबंध में दिये थे। उनका मानना था कि हिंदी और उर्दू दो सगी बहने हैं। जब इसे नागरी लिपि में लिखा जाताहै तो यह हिंदी हो जाती है और फारसी में लिखा जाता है तो यह उर्दू हो जाती है, इनका उद्‌गम एक है। धर्म को भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये स्वयं उर्दू से हिंदी में आए थे। इसलिए इनकी भाषा में

---

1 मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.31
2 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.24

चुलबुलाहट, रवानगी और तीखापन है। गुप्त जी के व्यक्तित्व का मुख्य पहलू सिर्फ हिंदी-उर्दू का मेल नहीं है। डॉ. नत्थन सिंह का कहना है- ''उनके व्यक्तित्व के दो अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष थे- एक देशभक्ति और दूसरा मानव कल्याण। राष्ट्रहित के लिए वह हिंदू-मुस्लिम एकता को अनिवार्य समझते थे। होली तथा ऋतुओं पर टिप्पणी लिखते हुए वह देशहित का विस्मरण नहीं कर पाते थे और न नागरी अक्षरों का समर्थन करते हुए हिंदू-मुस्लिम एकता का। ..... राष्ट्र विरोधी कार्य चाहे हिंदू का हो चाहे मुसलमान का, वह उसका जमकर विरोध करते हैं।''[1]

गुप्त जी ने हिंदी भाषा और लिपि संबंधी निबंध लिखे हैं। हिंदी और नागरी लिपि का समर्थन वैज्ञानिक ढंग से किया है। हिंदी में बिंदी, गरारेदार पंडित, मुसलमानी नाराजी, उलटे अक्षर आदि जैसे महत्त्वपूर्ण निबंध हैं, जिनमें हिंदी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से समर्थन है। जस्टिस शारदाचरण मित्र के साथ उस आंदोलन का पूरा समर्थन किया जिसमें भारत की सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखने को कहा गया था। भाषा और व्याकरण संबंधी विषय पर इनका विभिन्न विद्वानों से विवाद चलता था। इसमें उर्दू और हिंदी भाषा के शब्द, व्याकरण, मुहावरे आदि होते थे। इन्होंने उर्दू को भी इतना महत्त्व दिया जितना कि हिंदी को। हिंदी पत्रकारिता में आने के बाद भी उर्दू पत्रों में अपनी रचनाएँ भेजते रहे। 'हिंदी पत्रों का इतिहास' लिखने से पहले 'उर्दू समाचार पत्रों का इतिहास' लिखा। उर्दू पत्रों का इतिहास लिखने वाले ये पहले व्यक्ति थे। सन् 1900 में नागरी को कचहरियों के प्रवेश पर मान्यता मिलने पर जो बखेड़ा खड़ा हुआ उसे शांत करने के प्रयास के लिए कई लेख लिखे। हिंदू-मुसलमानों दोनों को शांत करते हुए- 'नागरी अक्षर' में कहते हैं, ''यदि इस विषय को केवल हिंदू-मुसलमान के मेल में कुछ झमेल पड़े तो अच्छी बात नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा वालों को चाहिए कि जब तक यह नया बखेड़ा शांत न हो जाए तब तक खूब शांति से काम लें, झूठ-मूठ के के आनन्द में उन्मत होने की कोई जरुरत नहीं है।

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.26

मुसलमानों को यह जानना चाहिए कि जिस भाषा को उर्दू कह रहे हैं, वह हिंदी में से अलग नहीं है। उर्दू के आदि कवियों ने उस भाषा को हिन्दवी कहकर पुकारा है।''[1]

गांधी जी के आंदोलन के कई वर्ष पहले गुप्त जी और उनके समकालीनों ने स्वदेशी आंदोलन का समर्थन किया, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया, अंग्रेजी का विरोध तथा स्वभाषा को महत्त्व देने के लिए तन-मन-धन से प्रयास किया। अन्य समकालीनों में राजभक्ति तथा राष्ट्रभक्ति का मिला-जुला स्वरुप दिखाई पड़ता है, परन्तु गुप्त जी अंग्रेजों की नीयत को बहुत पहले ही ताड़ गए थे। इसलिए 'पॉलिटिकल होली' जैसी कविता लिखकर देशवासियों को जगाना चाहा। लंदन में उदार दल की सरकार बनने से लोगों को भ्रम था कि अब हालात सुधरेंगे, परन्तु गुप्त जी साफ-साफ कहते हैं कि सभी विदेशी एक जैसे ही हैं। लोग जेल जाने से डरते थे परन्तु इन्होंने जेल को कृष्ण मंदिर कहा। सन् 1920 के आंदोलन से पहले इन्होंने जेल को पवित्र स्थल कहा और यह भी कहा कि उस स्थान की धूल मस्तक पर लगाने योग्य होगी। जिन समस्याओं को लेकर गुप्त जी ने लिखा वह आज भी हमारे समक्ष उपस्थित है। परन्तु बालमुकुंद गुप्त अपनी दूर दृष्टि से भावी समस्याओं को देख रहे थे और उनका समाधान भी बता रहे थे।

बालमुकुंद गुप्त विविध विषयों के जानकार थे, इसलिए उन्होंने अपने पत्रों को सिर्फ राजनीति तक ही सीमित नहीं रखा। विभिन्न व्यक्तियों के रेखाचित्र और जीवन चरित्र उन्होंने 'भारतमित्र' में प्रकाशित करवाए। विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में करवाया। मातृभाषा के लिए उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। वे चाहते थे कि अच्छे-अच्छे लेखकों की पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में हो। हिंदी में अच्छी पुस्तकें लिखी जाएं, जो विद्यार्थी अंग्रेजी पढ़ते हैं उनके हृदय में हिंदी रुपी बीज बोया जाए। 'गुप्त जी' ने यूरोपीय और भारतीय इतिहासविदों के बारे में लिखा। उर्दू-फारसी के रेखाचित्र भी लिखे।

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.5

गुप्त जी भारतीय संस्कृति और आदर्श के उपासक थे। उनके मन में क्रूर शासक अंग्रेजों के प्रति रोष और प्रतिरोध का भाव था, तो भारतीय जनमानस के प्रति अपूर्व अनुराग और सहानुभूति थी। राष्ट्रीयता उनके मन की भावधारा और हृदय को ऊष्मा, ऊर्जा देने वाली प्राणधारा थी।

3.2 शिवशंभु के चिट्ठे में जातीय चेतनाः-

''ज़माना था गौरांग महाप्रभुओं का जिनके शासन में रोना भी गुनाह था। कोयल का कूकना अपराध था और बुलबुल के गाने पर कठिन प्रतिबंध था। 'इस कफस में बुलबुलों का चहचहाना है मना' किन्तु उसी जमाने में गुप्त जी व्यंग्यात्मक बाण छोड़ते थे। भय का लेशमात्र भी उन्हें अनुभव नहीं होता था। उन्होंने लॉर्ड कर्जन के नाम से 'शिवशंभु के चिट्ठे' लिखे जो व्यंग्य साहित्य के अद्‌भुत उदाहरण हैं। इन चिट्ठों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुप्त जी को तत्कालीन राजनीतिक विषयों तथा समस्याओं का विशद् ज्ञान रहता था और उनके विश्लेषण करने की पैनी दृष्टि एवं क्षमता रहती थी।''[1] ये वाक्य श्री रघुनन्दन मिश्र ने गुप्त जी के बारे में कहे थे। शिवशंभु के चिट्ठों के माध्यम से जिस जातीय भावना को बालमुकुन्द गुप्त अभिव्यक्त कर रहे थे, उनका निचोड़ इन वाक्यों में है। शिवशंभु के चिट्ठे 'बालमुकुंद गुप्त' की श्रेष्ठ कृति है। इसी कृति का दूसरा भाग 'चिट्ठे और खत' है। पहली रचना 'शिवशंभु के चिट्ठे' गुप्त जी के जीवन काल में ही 1906 में भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता से ही प्रकाशित हो गई थी। इसमें आठ निबंध है। इन्हीं आठ निबन्धों को ही चिट्ठे कहा जाता है। दूसरी रचना 'चिट्ठे और खत' में ग्यारह निबन्ध हैं। यह रचना उनकी मृत्यु के बाद ही पुस्तककार के रुप में प्रकाशित हो पाई थी। इन ग्यारह निबंधों में कुछ राजनीतिक प्रखरता वाले निबंध हैं तो कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले निबंध हैं। तीन खत भी इस रचना में सम्मिलित हैं, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

---

1 (संपादक) कल्याणमल लोढ़ा, विष्णुकांत शास्त्री, बालमुकुन्द गुप्तः एक मूल्यांकन, बाबू बालमुकुंद गुप्तः शतवार्षिकी समारोह समिति, कलकत्ता, 1965, पृ.49

'शिवशम्भु के चिट्ठे' पहले उर्दू पत्र जमाना में छपे थे। बाद में भारतमित्र संपादक 'गुप्त जी' ने 'भारतमित्र' में इन्हें छपवाया। इनकी पहली किश्त 11 अप्रैल 1903 के भारतमित्र में प्रकाशित हुई थी। ये चिट्ठे उस समय लिखे गए थे, जब बालमुकुंद गुप्त 'भारतमित्र' के संपादक की हैसियत से लॉर्ड कर्जन के दिल्ली दरबार से होकर आए थे। अपने अनुभवों को व्यंग्य के साथ मिश्रित करके 'गुप्त जी' ने चिट्ठों का आकार प्रदान किया था। डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त का कहना है कि, ''उनके निबन्धों में विदेशी शासकों की नीति पर मीठा व्यंग्य किया गया है। 'शिवशंभु' के उपनाम से उन्होंने अनेक निबन्ध लिखे जो शिवशंभु के चिट्ठों के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें लॉर्ड कर्जन को सम्बोधित करके भारतवासियों की राजनीतिक विवशता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य बड़ा तीखा हो गया है।''[1] शिवशंभु शर्मा भंगेडी है। हर समय भांग के नशे में चूर रहता है। किंतु सोते-जागते हर समय भारत का हित ही उन्हें दिखाई देता है। उन्होंने अनेक व्यंग्य प्रधान निबंध लिखे, जिनमें लॉर्ड कर्जन, लॉर्ड मिण्टो और भारत सचिव लॉर्ड मार्ले आदि उनके शिकार बने। अपने व्यंग्य के तीरों से उन्होंने विदेशी शासन की क्रूरता और कूटनीति को अनावृत्त किया। लॉर्ड कर्जन आदि के भारत विरोधी कार्यों को एक-एक करके गिनवाया और देशवासियों में राष्ट्रप्रेम की भावना जगाई। डॉ. राजेन्द्र सिंह का कहना है- ''बालमुकुंद गुप्त का निबंध अत्यंत सशक्त है। अत्याचारों को देखकर तिलमिला उठने वाली देशभक्त आत्मा का व्यंग्य है। उसमें तीक्ष्णता, तड़पन, खीज सब कुछ है। 'शिवशंभु के चिट्ठे' राजनीतिक व्यंग्य में अपना कोई सानी नहीं रखते। भंगेडी शिवशंभु के दिवास्वप्नों में विदेशी शासनों पर करारी चोटें की गई हैं। दिल्ली दरबार, कलकत्ता का जुलूस, विक्टोरिया स्मारक का निर्माण और भारत के शासन काल में उसके द्वारा

---

1 डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, खंड- द्वितीय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010,पृ.349

उपयोग किये गये वैभव-विलास को बुलबुल उड़ाने का स्वप्न कहकर गुप्त जी ने तीव्र चोटें की हैं।''[1]

'शिवशंभु के चिट्ठे' में जातीय भावना का स्पष्ट स्वरुप दिखाई पड़ता है। इन चिट्ठों में उस समय की युग भावना परिलक्षित होती है। ये चिट्ठे इतने लोकप्रिय हुए थे कि अंग्रेजों ने इनका अनुवाद करवाकर पढ़ा था।

कर्जन के आगमन से पूर्व भारत निरंतर पड़ने वाली प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त था। अकाल, हैजा, प्लेग, दुर्भिक्ष आदि विपदाएँ भारत में मुँह फैलाए बैठी थी। लाखों लोग और पशु मौत के मुँह में समा गए थे। ऐसे समय में जब कल्याणकारी कार्यों की आवश्यकता थी, अंग्रेज शासक ऐश और आराम में डूबे हुए थे। अनावश्यक कार्यों पर अनाप-शनाप व्यय कर रहे थे। 1902 में लॉर्ड कर्जन ने अपने अहं और दंभ को दिखाने के लिए दिल्ली दरबार का आयोजन किया था। इस आयोजन पर एक लाख अस्सी हजार पौण्ड खर्च किए गए। लॉर्ड कर्जन ने कलकत्ता के वायसराय बनते ही लोक विरोधी कार्य आरम्भ कर दिये थे। लॉर्ड कर्जन ने कलकत्ता के मैदान से अखतर लोदी की लाठ को उठवा कर उस स्थान पर 7221875 रुपये की लागत से विक्टोरिया मैमोरियल हाल का निर्माण करवाया। अंग्रेज बस्ती वाले इलाकों में विकास कार्य करवाए और भारतीय इलाकों की अनदेखी की। यूनिवर्सिटी एक्ट पारित करके शिक्षा को मँहगी किया। बंगाल की एकता को तोड़ने के लिए बंग-भंग करवाया।

डॉ. बच्चन सिंह का कहना है, ''लॉर्ड कर्जन की भारत विरोधी नीति से गुप्त जी अत्यधिक क्षुब्ध थे। उस क्षोभ आक्रोश को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए व्यंग्य एकमात्र तरीका था। इसे व्यंग्य ना कहकर विडंबना (आइरनी) कहना अधिक संगत है। गुप्त जी के चिट्ठों का सारा ढाँचा विडंबनात्मक है।''[2] पहला 'चिट्ठा बनाम

---

1 डॉ. राजेन्द्र सिंह, बालमुकुंद गुप्त और उनके युग का निबन्ध साहित्य, कवि सभा दिल्ली, शाहदरा, दिल्ली, 1996, पृ.177-178

2 डॉ. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ.127

लॉर्ड कर्जन' है। जिसमें 'गुप्त जी' ने उन कार्यों की समीक्षा की है जिन्हें लॉर्ड कर्जन ने अपने पहले कार्यकाल के दौरान किया था। इन भारत विरोधी कार्यों पर 'गुप्त जी' ने 'शिवशंभु के चिट्ठों' के माध्यम से तीखी प्रतिक्रिया जाहिर की। कर्जन को उसके कर्त्तव्य की याद दिलाते हुए 'गुप्त जी' कहते हैं, ''आप बारम्बार अपने दो तुम-तराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मैमोरियल हॉल और दूसरा दिल्ली दरबार, पर जरा विचारिये तो यह दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी'?''[1]

गुप्त जी ने कर्जन की तुलना 'शिवशंभु शर्मा' नामक बालक से की है, जिसे बचपन से ही बुलबुलें रखने का चाव था। परंतु हिंदू होते हुए वह अन्य पठान बच्चों की तरह बुलबुल नहीं रख सकता था। इसलिए स्वप्न में ही बुलबुलों से खेलने का शौक पूरा करता है। परन्तु जब स्वप्न टूटते हैं तो न तो बुलबुल है और न ही आनंद। इसी प्रकार कर्जन के कार्य भी अस्थाई और सारहीन है। दिल्ली दरबार के साथ-साथ विक्टोरिया मैमोरियल हॉल में ही बनी मूर्तियों पर व्यंग्य किया है। ये मूर्तियाँ तो सिर्फ पक्षियों के बैठने के काम आती है। चन्द अमीर लोग इन्हें देखकर चले आते हैं परन्तु जो शासक अच्छे लोकहित कार्य कर गए हैं। उनकी मूर्ति तो प्रजा के हृदय में विद्यमान हैं जैसे- अकबर, विक्रमादित्य आदि। इसी संदर्भ में शिवशंभु शर्मा कहता है- ''यह मूर्तियाँ किस प्रकार के स्मृति चिह्न हैं? इस दरिद्र देश के बहुत से धन की एक ढेरी है, जो किसी काम नहीं आ सकती। एक बार जाकर देखने से ही विदित होता है कि वह कुछ विशेष पक्षियों के कुछ देर विश्राम लेने के अड्डे से बढ़कर कुछ नहीं है।''[2] इस चिट्ठे के अंत में 'शो और ड्यूटी' में अंतर समझाया कि 'शो' को 'शो' ही समझना चाहिए 'ड्यूटी' नहीं।

दूसरा चिट्ठा 'श्रीमान् का स्वागत' लॉर्ड कर्जन के दोबारा दो वर्ष के लिए आने पर लिखा गया था। यह भारतमित्र के 17 दिसम्बर 1904 के अंक में प्रकाशित हुआ

---

1 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.166
2 वहीं, पृ.167

था। इस चिट्ठे में कर्जन के दोबारा आने पर भारतवासियों के मन में जो उथल-पुथल हो रही थी उसी का वर्णन है- ''इस समय भारतवासी यह सोच रहे हैं कि आप क्यों आए हैं और आप यह जानते भी हैं कि आप क्यों आते हैं। यदि भारतवासियों का बश चलता तो आपको न आने देते और आपका वश चलता तो और भी कई सप्ताह पहले आ विराजते! पर दोनों ओर की बागडोर किसी और के ही हाथ में है।''[1]

इन शब्दों के माध्यम से कर्जन के गर्व पर चोट तथा भारतीयों का कर्जन के आगमन पर विरोध झलकता है। दिल्ली दरबार की व्यवस्थाओं पर जमकर प्रहार किया और कर्जन के आगे की योजनाओं पर भी कटाक्ष किया। गरीब, भूखी, लाचार जनता पर दया दिखाने की बजाय अपनी झूठी शान के लिए पैसे को बर्बाद करना, कर्जन की आदत थी। जो गुप्त जी जैसे संपादक को असहनीय था। लोगों को जागरूक करने के लिए, उनकी सुषुप्त राष्ट्रीयता को जगाने के लिए गुप्त जी को कलम का सहारा लेना पड़ा।

'शिवशंभु के चिट्ठे' की तीसरी किश्त 'वायसराय के कर्त्तव्य' शीर्षक से प्रकाशित हुई। अपने कल्पित नाम, शिवशंभु शर्मा को भारतीय गरीब जनता का प्रतिनिधि घोषित करते हुए 'गुप्त जी' ने लिखा है- ''बिना बुलाये यह दीन भंगड ब्राह्मण शिवशंभु शर्मा तीसरी बार अपना चिट्ठा लेकर आपकी सेवा में उपस्थित है। इसे भी प्रजा के प्रतिनिधि होने का दावा है। इसी से यह राजप्रतिनिधि के सम्मुख प्रजा का कच्चा चिट्ठा सुनाने आया है। आप सुनिये न सुनिये, यह सुनाकर ही जावेगा।''[2]

लेखक का स्पष्ट कहना है कि उसके पास जनता के प्रतिनिधि होने का प्रमाण नहीं है, परन्तु वह फिर भी चिथड़ा-पोश कंगालों का प्रतिनिधि मानता है। क्योंकि उसने इसी मिट्टी में जन्म लिया है और इसी मिट्टी में उसके मरने की इच्छा है। देश

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.182

2 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.187

के प्रति राष्ट्रीयता जाहिर करता हुआ शिवशंभु कहता है- ''बचपन में इसी देश की धूल में लोटकर बड़ा हुआ, इसी भूमि के अन्न-जल से उसकी प्राण रक्षा होती है।.... ..... गांव में उसका कोई झोंपड़ा नहीं है। जंगल में खेत नहीं है, एक पत्ती भर भी उसका अधिकार नहीं। इस भूमि पर उसका जरा स्वत्व न होने पर भी इसे वह अपनी समझता है।''[1] स्वयं को इसी भूमि का प्रतिनिधि मानकर, कर्जन को इसी धरती का शासक होने के नाते उसके कर्त्तव्यों की याद दिलाते हैं। ''जिन आडम्बरों को करके आप अपने मन में बहुत प्रसन्न होते हैं या यह समझ बैठते हैं कि बड़ा कर्त्तव्य पालन किया, वह इस देश की प्रजा की दृष्टि में कुछ भी नहीं है। वह इतने आडम्बर देख चुकी, सुन चुकी और कल्पना कर चुकी है कि और किसी आडम्बर का असर उस पर नहीं हो सकता।''[2]

कर्जन को पिछले कार्यों के लिए लताड़ते हुए गुप्त जी ने शासक को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाई। भारतीय प्रजा के हितों की खातिर लार्ड कर्जन ने क्या किया, यह आईना दिखाया।

एक बात इस चिट्ठे में गुप्त जी ने और कही, वह थी 'सत्य बोलो'। सत्यवादी युधिष्ठिर का उदाहरण देते हुए गुप्त जी कहते हैं- ''सत्यवादी युधिष्ठिर के मुख से जो निकल जाता था, वही होता था। आयु भर में उसने एक बार बहुत भारी पॉलिटिकल जरुरत पड़ने पर कुछ सहसा झूठ बोलने की चेष्टा की थी। वह बात महाभारत में लिखी हुई है। जब तक महाभारत है, वह बात भी रहेगी।''[3]

गुप्त जी ने कर्जन को असत्य बोलने का परिणाम युधिष्ठिर के उदाहरण से समझाने की चेष्टा की है। असत्य बोलने के कारण कर्जन को वाकबीर माना है।

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.188

2 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.190

3 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.- 2005, पृ. 172

उसकी कथनी और करनी में अंतर माना है। चौथे चिट्ठे में 'गुप्त जी' ने अंग्रेजों की उस नीयत का पर्दाफाश किया है, जिसके कारण वे भारतीयों को नीच और गिरा हुआ मानते हैं। उनकी प्रगति के रास्ते बंद करते हैं। भारतीयों को हमेशा नीच, गंवार, हीन और असभ्य बनाए रखना चाहते हैं, ताकि वे उन पर शासन करते रहें। उन्हें शारीरिक और मानसिक रुप से इतना प्रताड़ित करते हैं कि उनकी सोचने-समझने की शक्ति क्षीण हो जाए। 'पीछे मत फेंकिए' निबंध अंग्रेजों की इसी मानसिकता को दर्शाता है। अंग्रेजों और भारतीयों की तुलना करते हुए गुप्त जी कहते हैं- ''आप जैसे उच्च श्रेणी के विद्वान के जी में यह बात कैसे समायी कि भारतवासी बहुत से कार्य करने में योग्य नहीं और उनको आपके सजातीय ही कर सकते हैं। श्रम में, बुद्धि में, विद्या में, काम में, वकतृता में, सहिष्णुता में, किसी बात में, इस देश के निवासी संसार में किसी जाति के आदमियों से पीछे रहने वाले नहीं है।''[1]

इसी निबंध में कर्जन की तुलना रावण से की है। आज अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य चमक रहा है। परन्तु एक दिन ऐसा आएगा जब ये लोकविनाश के कार्य इसी साम्राज्य के पतन के कारण बनेगा। कितने ही शासक आए परन्तु इस भूमि को अपने साथ कोई नहीं ले जा सका। भारतीय प्रजा को भगवान ने आपको अर्पण किया है, अब यह आपके हाथ में है कि इसका उद्धार कीजिए या विनाश।

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक उपलब्धियों का बखान करते हुए 'गुप्त जी' ने अंग्रेजों को ललकारा है। अंग्रेज भारतीयों का अस्तित्व समाप्त करना चाहते हैं परंतु ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि भारतीयों की जड़े इतनी मजबूत हैं कि कोई भी विदेशी शासक उन्हें हिला नहीं पाएगा। ''जिस जाति से पुरानी कोई जाति इस धरा-धाम पर मौजूद नहीं, जो हजार साल से अधिक की घोर पराधीनता सहनकर भी लुप्त नहीं हुई, जीती है, जिसकी पुरानी सभ्यता और विद्या की आलोचना करके

---

1 (सं.) निर्मला जैन, रेखा सेठी, निबंधों की दुनियाः बालमुकुंद गुप्त, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 2009, पृ. 33

विद्वान और बुद्धिमान लोग आज भी मुग्ध होते हैं, जिसने सदियों से इस पृथ्वी पर अखंड शासन करके सभ्यता और मनुष्यत्व का प्रचार किया, वह जाति क्या पीछे हटाने और धूल में मिला देने के योग्य है?''[1]

अगला निबंध 'आशा का अंत' उस मानसिकता को दर्शाता है जिसमें भारतीयों ने अंग्रेजों से किसी भी लोकहित कार्य की अपेक्षा ही छोड़ दी थी। भारतीय प्रजा अंग्रेजी राज के सुख स्वप्न देखा करती थी, परन्तु उनके यह स्वप्न शिवशंभु शर्मा के बुलबुल वाले स्वप्नों की भांति भंग हो जाते हैं। कर्जन ने स्थानीय संस्थाओं में भी भारतीयों की सदस्यता समाप्त कर दी थी। बहुत से ऐसे पद थे जिन पर भारतीय कार्य नहीं नहीं कर सकते थे, सिर्फ अंग्रेज ही कर सकते थे। गुप्त जी ने इस भेदभाव की नीति की तीखी आलोचना 'आशा का अंत' निबंध में की। ''अंत में गत वर्ष आपने यह भी साफ कह दिया कि बहुत से पद ऐसे हैं, जिनको पैदाइशी तौर से अंग्रेज ही पाने के योग्य हैं।''[2]

स्वदेश प्रेम का चित्रण करते हुए 'गुप्त जी' ने यहाँ के निवासियों की नैतिक दशा का वर्णन किया है। इतनी विपरित परिस्थितियों में भारतीयों का मनोबल नहीं गिरा है। भारतीयों की इन्हीं विशेषताओं का वर्णन करते हुए 'गुप्त जी' ने कहा- ''सुनिये, विजित और विजेता में बड़ा अंतर है जो भारतवर्ष हजार साल से विदेशीय विजेताओं के पांवों में लौट रहा है, क्या उसकी प्रजा की सत्यप्रियता विजेता इंग्लैंड के लोगों की सत्यप्रियता का मुकाबला कर सकती है? यह देश भी यदि विलायत की भांति स्वाधीन होता और यहाँ के लोग ही राजा होते, तब यदि अपने देश के लोग ही यहाँ के राजा होते, तब यदि अपने देश के लोगों को यहाँ के लोगों से अधिक सच्चाा साबित कर सकते तो, आपकी अवश्य बहादुरी होती।''[3]

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.194

2 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.200

3 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.202

प्रत्येक निबंध में 'गुप्त जी' अंग्रेज शासकों को यह याद दिलाना नहीं भूले कि भारतीय प्रजा की अंग्रेजी राज में क्या हालत है? एक शासक के कर्त्तव्य क्या होते हैं? राष्ट्रभक्ति की भावना से ओत-प्रोत 'गुप्त जी' अंग्रेजों की राजभक्ति को सिरे से नकारते हुए लोगों को जागरुक करने का प्रयत्न किया। भारतीयों के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक वैभव का बखान करते हुए भारतीयों के नैतिक चरित्र को उजागर किया है।

18 मार्च, 1905 के 'भारतमित्र' में 'एक दुराशा' शीर्षक से निबंध प्रकाशित हुआ। इसमें होली के अवसर पर ब्रजराज कृष्ण और ग्वाल बालों की सम्मिलित होली, राजा-प्रजा की समानता का सूचक बताया है, जिसका अंग्रेजी राज में अभाव है। अब समय ऐसा है कि राजा, प्रजा की शक्ल तक नहीं देखता। कर्जन जैसे शासक के बारे में गुप्त जी ने कहा है- ''क्या कभी श्रीमान् का जी होता होगा कि अपनी प्रजा में जिसके दण्ड-मुण्ड के विधाता होकर आये हैं किसी एक आदमी के मिलकर उनके मन की बात पूछे या कुछ आमोद-प्रमोद की बातें करके उसके मन को टटोलें? माई लॉर्ड को ड्यूटी का ध्यान दिलाना सूर्य को दीपक दिखाना है।''[1]

ब्रिटिश राज के बारे में भारतीय प्रजा के क्या विचार हैं, लोग अंग्रेजी शासन के बारे में क्या सोचते हैं, इस बारे में गुप्त जी लिखते हैं- ''क्या कहकर वे अपने राजा और उसके प्रतिनिधि को संबोधित करें? किन संबंधों में ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्मभूमि में एक उंगल भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमें हमारे शरीर को फटे-चिथड़े भी नहीं जुडे और न कभी पापी पेट का पूरा अन्न मिला, उस राज्य की जय हो।''[2]

कर्जन का कार्यकाल पूरा होने पर 'गुप्त जी' ने 'विदाई संभाषण' लिखा। इस निबंध में कर्जन की पिछले कार्यों की समीक्षा है और जाते-जाते बंग-विच्छेद करने का दु:ख भी है। यहाँ से जाने के बाद कर्जन का क्या हाल हुआ होगा? यहाँ पर किए गए

---

1 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.181
2 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.183

कार्यों पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी ने कहा है- ''अब कुछ करना रह भी गया हो तो उसके पूरा करने की शक्ति माई लॉर्ड में नहीं है। आपके हाथों से इस देश को जो बुरा-भला होना था, वह हो चुका। एक ही तीर आपके तर्कश में और बाकी थी, उससे आप बंगभूमि का वक्षस्थल छेद चले। बस यहीं आकर आपकी स्मरण शक्ति समाप्त हो गई। इस देश की भलाई की ओर तो आपने उस समय भी दृष्टि न की, जब कुछ भला करने की शक्ति भी आप में थी।''[1]

जाते-जाते लॉर्ड कर्जन ने अपना आखिरी हथियार चलाकर बंगाल के दो टुकड़े कर दिये। परन्तु बंगाल की राष्ट्रीय एकता को नहीं तोड सके। ''यह बंग विच्छेद बंग का विच्छेद नहीं है। बंग निवासी इससे विच्छिन्न नहीं हुए वरन् और युक्त हो गए। जिन्होंने गत 16 अक्टूबर का दृश्य देखा है, वह समझ सकते हैं कि बंग देश या भारतवर्ष में ही नहीं अपितु पृथ्वी भर में यह अपूर्व दृश्य था।''[2]

3.3 भारतमित्र में सामाजिक जागरणः

'भारतमित्र' आरंभ से ही राजनीतिक पत्र रहा था। यद्यपि सामाजिक मुद्दे भी इसमें समय-समय पर उठते रहे, परन्तु राजनीतिक अभाव की पूर्ति करना ही मुख्य उद्देश्य रहा। उस समय के नामी पत्रों में सारसुधानिधि, उचित वक्ता, और भारतमित्र ही प्रमुख थे। डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र का कहना है- ''साहित्य के साथ ही अन्य विषयों के लेख भी इन पत्रों में प्रकाशित होते थे। साहित्य और राजनीति की प्रमुखता रहती थी। इन पत्रों में प्रहसन, व्यंग्य तथा ललित निबंधों की अधिक संख्या रहती थी। इन पत्रों का एकमात्र उद्देश्य था सामाजिक कुरीतियों से लड़ना और जातीय उन्नयन। इसीलिए सामाजिक और राजनीतिक विषयों की ओर इन पत्रों का विशेष झुकाव था। ''कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले पत्रों में 'भारतमित्र' 'सारसुधानिधि' और 'उचितवक्ता'

---

1 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.188
2 वहीं, पृ.190

अपनी राजनीतिक तेजस्विता के लिए अत्यंत प्रसिद्ध एवं सम्मानित थे।''[1] देश, दशा, समाज, शासन का यथार्थ चित्रण उस समय के समाचार पत्रों में पाया जाता था। पत्रों के संपादकों ने असाधारण साहस का परिचय देते हुए राजनीतिक और सामाजिक वातावरण का खुला वर्णन किया है।

'भारतमित्र' का प्रकाशन पं. छोटूलाल मिश्र और पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र ने किया। बंगला पत्र 'सोमप्रकाश' से प्रभावित होकर पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के मन में हिंदी पत्र-प्रकाशन की महत्त्वाकांक्षा उदित हुई। पं. छोटूलाल मिश्र पत्र के संपादक थे और पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र प्रबंध संपादक। इसका पहला अंक 17 मई, 1878 ई0 को पाक्षिक रुप में, सरस्वती प्रेस कलकत्ता से निकला था। अपनी पहली ही संख्या में इस पत्र ने अपना उद्देश्य स्पष्ट किया था। इस पत्र के बारे में डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं- ''राजा, प्रजा, राज्य, व्यवस्था, वाणिज्य, भाषा और सबके ऊपर देशहित की चर्चा करने वाला 'भारतमित्र' एक तेजस्वी राजनीतिक पत्र के रुप में चर्चित और विख्यात हुआ..... सुसभ्य प्रजा हितैषी राजा लोग समाचार पत्रों को स्वाधीनता देकर उत्साहित करते हैं- क्योंकि समाचार पत्र प्रजा का प्रतिनिधि स्वरुप होता है।''[2]

आरंभ से ही 'भारतमित्र' की नीति समाज कल्याण की रही थी। चाहे वह राजनीतिक के माध्यम से हो, चाहे वह आर्थिक समस्याओं को लेकर और चाहे वह भाषा के महत्त्व को लेकर रही है। अंग्रेजों की नीतियों को जनता के सामने लाना और उनके सुशासन का भंडाफोड करना ही भारतमित्र का उद्देश्य रहा।

वह समय राजनीतिक, सामाजिक और भाषा संबंधी आंदोलनों का था। इन्हीं आंदोलनों का प्रभाव उस युग के साहित्य पर भी दिखाई पड़ता है। जनता को जगाने का माध्यम यही पत्र-पत्रिकाएँ थी। इसीलिए पत्र संपादकों ने अपनी समस्त शक्ति लगाकर पत्र साहित्य की परम्परा को जीवित रखा। उस समय पत्र का लिखा हुआ

---

1 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली 1985, पृ.115-116
2 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ.130

एक-एक शब्द सत्य माना जाता था। इसीलिए समाज की बुराइयों का शोधन करने का माध्यम भी यही पत्र-पत्रिकाएँ थी। यह साहित्य जनता का साहित्य था, इसकी भाषा हिंदी थी। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए व्यापक आंदोलन हो रहे थे। अलग-अलग मातृभाषी लोगों ने अपनी मातृभाषा में लिखना छोड़कर हिंदी में लिखना आरंभ किया। यह एक बहुत बड़ी बात थी। हिंदी के माध्यम से समाज में जागृति लाने की कोशिश की जा रही थी। हिंदी, नागरी और गोरक्षा सामाजिक चेतना के पर्याय बन गए थे, जिसका समर्थन राष्ट्रहित वाले पत्र कर रहे थे। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है- ''वे अपने साहित्य की रचना कचहरियों की भाषा में न कर सकते थे, उसके लिए जनता की भाषा को अपनाना आवश्यक था। कचहरी, सरकार और अन्य विशिष्ट वर्गों के विरोध के होते हुए भी उन्होंने हिंदी गद्य का एक रुप स्थिर किया।''[1]

तात्कालिक समाज अनेक सामाजिक बुराइयों से घिरा हुआ था। पाश्चात्य संस्कृति और नवीन शिक्षा प्राप्त वर्गों की बदली हुई मानसिकता के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन के आदर्श डगमगाने लगे थे। ऐसे समय में संवेदनशील रचनाकारों ने अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से समाज की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। डॉ. मीरा रानी बल का कहना है, ''उस काल में व्याप्त जाति-व्यवस्था अनेक वैवाहिक कुसंस्थाओं, पर्दा-प्रथा आदि सामाजिक समस्याओं के विरूद्ध व्यापक अभियान छेड़कर उसने सामाजिक जन-जागरण का प्रवर्त्तन किया था। अतः सामाजिक चेतना के उद्‌बोधन में जितनी भूमिका तत्कालीन समाज-उन्नायकों राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि की रही उनसे अधिक नहीं तो उनके समकक्ष उस युग के पत्रकारों की भी रही।''[2]

---

1 डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ.14

2 डॉ. मीरा रानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.155

'भारतमित्र' उस समय के पत्रों में अग्रणीय था। सामाजिक समस्याओं को लेकर 'भारतमित्र' में समय-समय पर लेख प्रस्तुत होते रहते थे। आरंभ से ही इसकी नीति सामाजिक, राजनीतिक हित की रही। इसके पहले संपादक छोटूलाल मिश्र पुरातन प्रिय थे, परन्तु सामाजिक सुधारों का खुलकर समर्थन किया और यह रीति आगे तक चलती रही। बाल-विवाह को सरकार ने असंवैधानिक घोषित कर दिया था, परन्तु कुछ रुढिवादी लोग इसका विरोध कर रहे थे तो भारतमित्र ने सरकार का समर्थन करते हुए कहा कि- ''उन्नति के प्रधान प्रतिबंधक बाल्य विवाह को समाज से विदूरित कर्ने के लिए ऐसा यत्न कर रही हैं और सब आदमियों को एकतान होकर इस नियम के शीघ्र ही प्रचलित हो जाने की पोषकता कर्नी चाहिए।''[1]

बाल विवाह को निषेध करने के लिए भारतमित्र ने एक उपाय और सुझाया था, 2 जून, 1878 के लेख में लिखा था- ''बंग देश से बाल विवाह उठा देने के लिए प्रसिडेन्सी विभाग के स्कूल इनस्पेकटर ने एक उपाय स्थिर किया है, जो बालक विवाहित है वो कलकत्ते के विश्वविद्यालय में प्रवेशिका प्रवेश न देने पावे, इस प्रकार का एक आइन करना उचित है।''[2] राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ अकाल, गरीबी, भूखी, बेरोजगारी, धार्मिक मुद्दों पर भी 'भारतमित्र' ने लिखा। भारत से निर्यात होने वाले चावलों पर ड्यूटी हटाने का अनुरोध लंदन के एक अंग्रेज मिस्टर जर्जटकर ने 'टाइम्स' पत्र में किया तो 'भारतमित्र' संपादक ने 19 सितम्बर, 1878 ई0 के अंक में संपादक ने टिप्पणी दी जिसका शीर्षक था। 'अपने को ठाँव नहीं, पाँच पीर संग चले।' भारतवर्ष में उस समय अकाल पड़ा हुआ था और अंग्रेज बाहर चावल भेज रहे थे। इसी पर कटाक्ष करते हुए संपादक ने लिखा था, ''दूसरे का दुःख दूर करने के पहले उसी प्रकार अपना दुःख दूर करना उचित है, इस देश में आजकल जैसी दुर्भिक्ष की

---

1 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ.409-410

2 उद्धृत डॉ. मीरा रानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.158

बढ़ती है उसके लिए देश-हितैषी समदु:खगणों को यह उचित है जो पहले भारत को उस कष्ट से बचावे तब उस्से और का अपकार करे जो स्वयं दीन, निराहार और मुट्ठी भर अन्न के लिए लालायित रहते हैं। उनसे सहाय्य की प्रार्थना करना और बलपूर्वक छीन लेना दोनों एक ही समान है।''[1]

'भारतमित्र' के 1883 ई0 के कई अंकों में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के बंगाली पत्र पर राजद्रोह का मुकदमा चलाने और इलबर्ट बिल की चर्चा हुई। प्रेस एक्ट के रद्द करने पर लॉर्ड रिपन का धन्यवाद किया गया। उनकी प्रशंसा में कई लेख 'भारतमित्र' में निकले। स्वामी दयानन्द के सामाजिक कार्यों की सदैव भारतमित्र ने प्रशंसा की, यद्यपि दयानन्द से वैचारिक मतभेद हिंदू धर्म के अनुयायियों के थे।

30 अक्टूबर, 1883 ई0 को स्वामी दयानन्द का देहांत हुआ था। 1 नवंबर, 1883 ई0 के लेख में 'स्वामी दयानंद सरस्वती' नामक लेख निकला। इस लेख के बारे में 'गुप्त निबंधावली' में कहा गया है, ''उसमें स्वामी दयानंद जी की बहुत कुछ प्रशंसा की गई है और उनको महात्मा कहकर स्मरण किया गया है। ..... इस महात्मा के जो संकल्प थे यदि सब पूर्ण हो जाते, हमें इनके मरने का इतना बड़ा शोक न होता।''[2] 1884 ई0 के अंकों में हिंदी आंदोलनों की चर्चा की गई। पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, ''भारतमित्र किसी स्वार्थसाधना के लिए नहीं निकाला गया था। इसका उद्देश्य एक राजनीतिक पत्र का अभाव दूर करना था। इसमें राजनीति की चर्चा तो मुख्यकर होती थी, अन्य आनुषङ्गिक विषय भी छूटने नहीं पाते थे। उन दिनों हिंदी का आंदोलन करना हिंदी पत्रों का कर्त्तव्य समय-समय पर हिंदी की हिमायत में लिखे गये। गो-रक्षा पर भी अच्छे लेख निकले और अनेक लोकोपकारी विषयों की चर्चा हुई।''[3]

---

1 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली 1985, पृ.410

2 (सं.) बृजकिशोर वशिष्ठ, उर्दू-हिंदी समाचार पत्रों का इतिहास (बालमुकुन्द कृत), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.130

3 पं. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2005, पृ.146

उर्दू-हिंदी के विवादों को भी भारतमित्र ने स्थान दिया। 1886 और 1887 में गोरक्षा जैसे मुद्दों को बड़े जोश के साथ भारतमित्र ने उठाया। 1891 में 'सहवास बिल' का तीव्र विरोध 'भारतमित्र' ने किया। 1894 ई0 में एक महत्त्वपूर्ण समाजपयोगी कार्य 'भारतमित्र' ने किया वह था कलकत्ता में पानी के जुए का खेल बंद करवाना। पानी के इस खेल में बहुत से लोग बर्बाद हो गए, जिसके कारण अपराधियों की संख्या बढ़ गई थी। ''भारतमित्र ने इसका आंदोलन आरंभ किया। पहले उसे कई बार विफल मनोरथ होना पड़ा पर अन्त में सन् 1897 ई0 में सफलता प्राप्त हुई। बंगाल गवर्नमेंट ने पानी का जुआ बन्द करने के लिए एक आईन बना दिया।''[1]

एक अन्य समाजपयोगी कार्य की सफलता भी 'भारतमित्र' के माध्यम से हुई वह था चेक का भुगतान रात को बंद करवाना। कलकत्ता के व्यापारियों या महाजनों से बंगाल बैंक रात से ही भुगतान वसूला करते थे। परन्तु 'भारतमित्र' ने बंगाल बैंक के मुंशी की सहायता से रात का भुगतान बंद करवाया।

इस कार्य के बारे में बालमुकुंद गुप्त ने लिखा है- ''भारतमित्र कलकत्ते के बड़े बाजार का पत्र है इससे बड़े बाजार की सेवा वह जन्मदिन से करता आया है। पानी का जुआ उठवा देने में उसने बड़े बाजार की अच्छी सेवा की। उसके बाद दूसरा काम का भुगतान उठवा देना है। पहले बड़े बाजार के मारवाडियों में दस्तूर था कि वह हुण्डियों के रुपये का भुगतान रात को किया करते थे। रात को दो-दो बजे रुपये चुकाने पड़ते थे। इसमें बड़ा कष्ट और अनर्थ होता था। वह चाल आंदोलन करके उठाई गई।''[2]

16 जनवरी, 1899 ई0 को 'गुप्त जी' ने 'भारतमित्र' का संपादन भार संभाला। इन्होंने आते ही जनहित को ध्यान में रखते हुए पत्र का आकार तो बढ़ा

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.497

2 (सं.) बृजकिशोर वशिष्ठ, उर्दू-हिंदी समाचार पत्रों का इतिहास (बालमुकुन्द कृत), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.143-144

दिया परन्तु मूल्य घटा दिया। 'भारतमित्र' के संबंध में गुप्त जी के मत इस प्रकार से थे, ''भारतमित्र राजनीतिक पत्र है, आदि से इसकी यही पॉलिसी है। हिंदी का प्रचार और राजनीतिक चर्चा इसके प्रधान उद्देश्य हैं। धर्म का आंदोलन करना इसकी पॉलिसी नहीं है पर जरुरत पड़ने पर उसी में शरीक होना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। सदा से पुरानी चाल के हिंदू इसके परिचालक हैं, इससे उनके धर्म की इसे काम पड़ने पर तरफदारी करनी पड़ती है। यही चाल इसकी आरंभ से अब तक है।''[1]

बाबू बालमुकुंद गुप्त के संपादन काल में 'भारतमित्र' में उनकी रचना 'चिट्ठे और खत' लेखों के रुप में प्रकाशित होते रहे। इन लेखों में बहुत से लेख सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रखते थे। मेले का ऊँट, मनुष्य गणना, अधिमास निर्णय मेम्बर बुलाने की तरकीब, मारवाड़ी महाशयों के नाम आदि कुछ ऐसे ही निबंध हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी कविताएँ भी सामाजिक पृष्ठभूमि को लिए हुई थी। 'मेले का ऊँट' निबंध में लेखक ऊँट की अनदेखी पर क्षोभ प्रकट करता हुआ वर्तमान मारवाड़ी समाज पर व्यंग्य करता है। ऊँट भूतकाल में किए गए कार्यों की याद दिलाता हुआ कहता है, ''आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी। मैंने मारवाड़ से मिरजापुर तक और मिरजापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किए हैं। महीनों तुम्हारे पिता तथा उनके भी पिताओं का घर-बार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जना है वह सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थी। मारवाड में मैं सदा तुम्हारे द्वार पर हाजिर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ है?''[2]

9 मार्च 1901 को 'मनुष्य गणना' नाम से निबंध भारतमित्र में छपा, जिसमें मर्दों और हिजड़ों की तुलना की गई है। बहुत से ऐसे कार्य जिन्हें करने में मर्दों को

---

1 (सं.) बृजकिशोर वशिष्ठ, उर्दू-हिंदी समाचार पत्रों का इतिहास (बालमुकुन्द कृत), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.140

2 (संपादक) निर्मला जैन, रेखा सेठी, निबंधों की दुनियाः बालमुकुंद गुप्त, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2009, पृ.63

शर्म आनी चाहिए, परंतु फिर भी वे करते हैं, इसीलिए लेखक ने व्यंग्य किया है कि फिर मनुष्य गणना में हिजड़ों को मर्द क्यों न लिखा जाए? मर्द स्त्री बनकर नाचते हैं, अपने से अच्छी आर्थिक स्थिति वाले की खुशामद भी करते हैं, अब मर्दों ने हथियार रखना भी छोड़ दिया है। बहुत से मर्द स्त्रियों के इशारे पर नाचते हैं। ये सारे कार्य हिजड़े भी करते हैं। आगे चलकर बेगार देने पर व्यंग्य किया है कि हम कमजोर पड़कर बेगार क्यों देते हैं? सरहदी लड़ाई में सरकार ने हरियाणा और पंजाब के लोगों से बेगार लिया था, बैलगाडियों और ऊँट के रुप में, और अब किसी भी आदमी को पकड़कर मनुष्य गुणना करने को दे देते हैं।

इसी प्रकार का एक और निबंध 'अधिमास निर्णय' 15 जून, 1901 के 'भारतमित्र' में छपा। इस निबंध में पंडितों की उस व्यवस्था पर कटाक्ष किया है जिसमें उन्होंने लोगों को मूर्ख बनाकर वर्ष के मास को एक से दो कर देते हैं, जैसे कुछ लोग दो दीवाली, दो होली, दो जन्माष्टमी मनाते हैं। उसी प्रकार काशी के पंडितों ने आषाढ़ को अधिमास सिद्ध किया है और श्रावण को अधिमास दरभंगा नरेश ने सिद्ध किया है। कुछ लोग दो आश्विनी होने की बात कहते हैं, क्योंकि इसमें दो पितृपक्ष होंगे तो ब्राह्मणों को लाभ मिलेगा। कुछ लोग कार्तिक मास के अधिमास होने की बात करते हैं। परन्तु लेखक (शिवशंभु शर्मा) चाहता है कि दो होली के दो त्योहार हो क्योंकि होली गरीबों का त्योहार है। होली को अमीर-गरीब, राजा-प्रजा सब मिलकर मनाते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि को लिए हुए अगला निबंध 'मेम्बर बुलाने की तरकीब' है। मारवाडियों की विसंगतियों को यह निबंध उजागर करता है। मारवाड़ी एसोसिएशन नामक संस्था के मेम्बर सभा की मीटिंग में उपस्थित नहीं होते। मेम्बर लोग इसे फालतू का काम समझते हैं और चाहे-अनचाहे चंदा भिजवा देते हैं। संपादक बालमुकुंद गुप्त ने कुछ रोचक उपाय सुझाए जिससे लोग सभा में आ सके-

''1. मेम्बरों के पास जो बुलावे का कार्ड भेजा जाता है वह न भेजकर पारसी थियेटर वाले के विज्ञापन की भांति बाजे-गाजे के साथ विज्ञापन बंटा करें।

2. कभी-कभी एसोसिएशन हॉल में कोई थियेटर या ख्याल जरूर करें। बहुत मेम्बर आया करेंगे।

3. कभी-कभी डॉक्टर कैलास बाबू को भी सभी की ओर से निमन्त्रित किया जाया करे। उनके आने से अवश्य खूब भीड़ होगी।''[1]

इसके अतिरिक्त और भी उपाय जैसे एसोसिएशन हॉल में महफिल का आयोजन, हॉल के द्वार पर झण्डा, रोशनी और बाजे का प्रबंध, मेम्बरों को बुलाने के लिए आने-जाने की गाड़ी का प्रबंध किया जाए।

स्वयं मारवाडी समाज का हिस्सा होते हुए 'गुप्त जी' ने मारवाडी समाज की बहुत सी विसंगतियों को निबंधों के माध्यम से उठाया। 'मारवाडी महाश्यों के नाम' निबंध में संपादक ने मारवाडियों के अधर्म के रास्ते पर चलने पर व्यंग्य किया है। कुछ मारवाडियों ने विद्या के प्रति अनुग्रह दिखाया तो संपादक ने कटाक्ष करते हुए कहा, ''खबरदार! खबरदार! विद्या के कभी पास न फटकना। विद्या का और तुम्हारा कुछ मेल नहीं। चौदह पीढ़ी तक का पता लगा लो विद्या से तुम्हारा कुछ सरोकार नहीं निकलेगा। विद्या तुमसे और तुम विद्या से सदा कोसों तक भागते रहे हो। विद्या ने तुमसे और तुमने विद्या से कभी कुछ लाभ नहीं कमाया। जहाँ तुम रहते हो वहां से कोसों दूर खड़े रहकर भी विद्या के पर जलते हैं। ऐसे जो तुम हो तुम्हें विद्या से क्यों सरोकार है।

कलकत्ते में जब तुम्हारे पूर्व पुरुष आए तो उन्हें विद्या अपनी पीठ पर चढ़ा के नहीं लाई थी, ऊँट लाया था।''[2]

किसानों की दुर्दशा का जो चित्रण भारतमित्र संपादक 'बालमुकुंद गुप्त' ने जो अपनी कविताओं में किया है वह अन्य कहीं दुर्लभ है। उनकी कविताओं के माध्यम से

---

1 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड- 3, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.93

2 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-3, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.97

उस समय की साम्राज्यवादी लूट का अनुमान लगाया जा सकता है। जो लगान किसानों को देना होता था वह उनकी फसल से भी ज्यादा होता था। अंग्रेज शासक लगान वसूलने के लिए अत्याचार और लूट का सहारा लेते थे। जो किसान सारे समाज के लिए अनाज उपजाते हैं वह स्वयं भूखे मरते हैं। उनकी यही दशा आज की भी है। गुप्त जी ने अपनी हर रचनाओं में समाज की यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक, भारतमित्र' में छपी 'रामविनय' कविता में लिखते हैं-

''बहु दिन बीते राम प्रभु खोये अपनो देस।
खोवत है बैठ के भाषा भोजन भेस।।
नहीं गांव में झूपडो नहिं जंगल में खेत।
घर ही बैठे हम कियो अपनो कंचन रेत।।''[1]

भारतमित्र 15 अक्टूबर, 1904 को भूख ओर गरीबी का यथार्थ चित्रण 'गुप्त जी' ने भारतमित्र के माध्यम से किया। 'हे राम' में लिखते हैं-

''केते बालक दूध के बिना अन्न के कौर।
रोय-रोय जी देते हैं कहा सुनावे और।।''[2]

(भारतमित्र 1 अक्टूबर, 1904)

लेखक भक्ति की रचनाओं में भी भगवान से देश की दशा सुधारने की प्रार्थना करता है। उनके केंद्र में गरीब जनता ही है।

अन्य रचनाओं में समाज की अन्य विसंगतियों को उभारा गया है। ढोंगी, पाखंडी गुरुओं और उनके शिष्यों की भी पोल खोली गई है। 'बाबाजी वचनम्' (जोगीड़ा) इसी प्रकार की रचना है जिसमें गुरु ओर चेले की वास्तविकता समाज के सामने लाई गई है। धनिक-रसिक समाज की रहन-सहन और जीवन शैली पर व्यंग्य

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.489

2 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.487

करते संपादक गुप्त जी ने 'आजकल का सुख' कविता लिखी। धनी-रसिक समुदाय के लोग घर में बीवी के होते हुए भी अन्य कहीं प्रेम ढूँढते हैं। लेखक ने कहा है-

''पद्मिनी घर में है पर उससे सुख मिलता नहीं।
उसके कोरे प्रेम से दिल का कमल खिलता नहीं।।.....
देशहित कह कहके नाहक फाडते हो क्यों गला।
कौन परहित में फँसेगा छोड़के अपना भला।।.....
धूल लिखना खाक पढ़ना जाय सब चूल्हे में जाय।
कुछ न सोचो नाच मुंजरे और मदिरा के सिवाय।।''[1]

धनी लोग सिर्फ भोग विलास में डूबे रहते थे। उन्हे विद्या, परिश्रम, देशहित से कोई सरोकार नहीं था। हिंदू समाज की दूषित मनोवृत्तियाँ इस कविता के माध्यम से उभारी गई हैं।

स्त्रियों की दशा दिखाने के लिए कुछ रचनाएँ 'भारतमित्र' में आई। इनमें से कुछ रचनाएँ तो स्त्री की सोचनीय दशा को प्रदर्शित करती थीं तो कुछ ऐसी भी थीं जोकि पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित और भारतीय संस्कृति से दूर होती स्त्रियों के लिए थी। बाल-विधवा के पुनर्विवाह के समर्थन में 'गुप्त जी' ने लिखा है- ''बालक विधवा की शादी में करते हैं जो चूक, ऐसे मूरख भ्रातगण के फिट्टे मुँह पर थूक।''[2]

नारियों की सोचनीय दशा को उभारने के लिए 'अबला विलाप' कविता 12 जून 1899 ई0 के भारतमित्र में छपी। बाल-विनोद के लिए भी भारतमित्र में बहुत सी सामग्री छपी। स्वयं संपादक गुप्त जी ने बच्चों के लिए 'खिलौना' नाम की पुस्तक चित्रों सहित सरल हिंदी में छापी। बच्चों का मनोबल ऊँचा उठाने के लिए गुप्त जी ने 'जरुर कर सकते हो' 'रेलगाड़ी', प्रभात, खल और साधु जैसी कविताएँ लिखीं।

---

1 (सं.) पं. झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.690, 693, 694

2 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.351

''जो जल में नहिं घुसे तैरना उसको कैसे आवे,
जो गिरने से हिचके उसको चलना कौन सिखावे।''.....
हिसहिस, हिसहिस हिसहिस करती रेल धडाधड जाती
जिन जंजीरों से जकड़ी है उन्हें खूब खुडकाती है।
दोनों और दूर से दुनिया देख रही है बाँध कतार,
धुएँ के बल से जाती है धुआं उड़ाती धूंआधार।।''[1]

'गुप्त जी' ने 'भारतमित्र' के माध्यम से हिंदू मर्यादा व हिंदूपन की बात कही है। परंतु उनका हिंदूपन कर्मकांडी व पूजा-पाठी नहीं है। उनका हिंदूपन नैतिकता में है, आचरण में है। मध्यकालीन संतों की तरह उन्होंने सदैव धार्मिक शिक्षाओं को महत्त्व दिया। हिंदू धर्म के माध्यम से ही उन्होंने नैतिकता एवं सामाजिक मर्यादा का बोध उत्पन्न कराया है। उनके हिंदू धर्म में दूसरे धर्म के प्रति नफरत या घृणा का भाव नहीं है। उनमें अपने धर्म को श्रेष्ठ या अन्य को निष्कृष्ट करने का भाव नहीं दिखाई देता। हिंदू धर्म का आडम्बर रहित प्रचार करने वाले के लिए 'गुप्त जी' कहते हैं-

''हिंदूपन पर लेक्चर झाड़ो, गाओ ताल बेताल,
कलम चलाओ, बात बनाओ, गला फाड़ चिल्लाओ।
हिंदू धरम प्रचार करो भाई, होनोलूलू जाओ,
जो न बने तुमसे कुछ भाई, पीटो पकड़ लुगाई।''[2]

मध्यकालीन संतों की तरह प्रभु को अपने अंदर ही खोजने को 'गुप्त जी' ने 'मनरे' कविता के माध्यम से कहा है-

''मन रे सब घट के अंदर, क्यों भूला फिरे मछन्दर,.....
देवी देवी सभी इस घट में आंख खोल दर्शन कर।
इस ही में षट् दर्शनशाला धर्मभवन शिवमन्दिर।''[1]

---

1 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.337-338

2 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.455

'भारतमित्र' संपादक बालमुकुंद गुप्त ने धर्म संबंधी निबंध भी लिखे। धर्म उनकी नस-नस में था। उनका धर्म सामिष्टगत था। उनकी धर्म संबंधी विचारधारा में राष्ट्रभक्ति का मिश्रण था। उनका धर्म स्वदेश और स्वजाति-सापेक्ष है। एक बार 'आर्यावत' ने 'भारतमित्र' के नाम और उद्देश्य में अंतर बताते हुए कहा था कि भारतमित्र हिंदुओं का तरफदार है। तो भारतमित्र संपादक गुप्त जी ने आर्यावत के आरोपों का उत्तर देते हुए कहा, ''भारतमित्र भारतवर्ष का कागज है। भारतवर्ष हिंदुओ का देश है। हिन्दुओं की इसमें प्रधानता है। हिंदुओं ने ही 'भारतमित्र' को जन्म दिया है, जिन लोगों ने इसे चलाया है वह हिंदू हैं और जो इसमें लिखते हैं, वह भी हिंदू है। इसी से 'भारतमित्र' हिंदुओं का तरफदार है और वह तरफदारी किसी मजहब वाले से लड़ाई करके नहीं, दूसरे मजहब को अपने मजहब में मिलाने के लिए नहीं, केवल हिंदुओं की मुल्की, माली और राजनीतिक तरफदारी है।''[2]

भारतमित्र हिंदुओं का पत्र अवश्य था, परंतु साम्प्रदायिक नहीं। हिंदी और उर्दू के भेद में भी भारतमित्र ने हिंदी का पूर्ण समर्थन कभी नहीं किया। वह अंग्रेजों की नीतियों को सदैव जनता के सामने लाने का प्रयास करता रहा। वह युग राजनीतिक-मानसिकता पराधीनता का था। अंग्रेजों ने चारों तरफ से शोषण का शिकंजा कसा हुआ था। ऐसे समय में कुछ लोग ऐसे भी थे जो सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए अथवा अंग्रेजों की दृष्टि में ऊँचे उठने के लिए शासकों की गुलामी करते थे। ऐसे राष्ट्रद्रोहियों को 'भारतमित्र' ने कभी नहीं बख्शा। 'गुप्त जी' ने 'पंजाब में लायल्टी' और 'हम हैं नमक हलाल' जैसी रचनाओं से राष्ट्रद्रोहियों पर करारा व्यंग्य किया था।

''आप सभी हैं जानते हम हैं नमक हलाल,
ओरों से मिलता नहीं तभी हमारा ख्याल।

---

1 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.395

2 डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1985, पृ.265

'घूसखोर' ही है कहा, मारी तो नहिं लात,

फिर क्यों कुरसी त्याग दे ऐसी क्या है बात।''[1]

पंजाब के लोगों की राजभक्ति पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी कहते हैं-

''खान बहादुर-राय बहादुर, कितने ही सरदार नवाब,

सब मिल-जुलकर लूट रहे हैं, लायल्टी का खूस सबाब।

ऐरा-गैरा नत्थू खैरा सब पर इसकी मस्ती है,

लायल्टी लाहौर में अब भूसे से भी कुछ सस्ती है।.....

पेट बन गये हैं इन सबके लायल्टी के गुब्बारे,

चला नहीं जाता है, थककर हाँफ रहे हैं बेचारे।''[2]

अपनी बात को कहने के लिए 'गुप्त जी' ने टेसू और जोगीड़ा जैसे लोकगीतों का सहारा लिया। ताकि जनसाधारण गूढ़ रहस्य वाली बात को भी आसानी से समझ सके।

''घर में बैठे चैन से खाओ, देस भेस चूल्हे में जाओ।

जिन पर है, ईश्वर की मार, उनका कुछ मत करो विचार।

उनके तुम नीरे मत जाओ, अपनी ढोलक आप बजाओ।''[3]

मनुष्य स्वार्थ में कितना अंधा हो जाता है कि वह सिफ अपने पेट की खातिर ही जीता है। इसी बात पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी ने कहा है-

''साधो पेट बड़ा हम जाना, यह तो पागल फिरे जमाना।.....

जबसे जन्मे सिवा पेट के और न कुछ पहचाना,

लड्डू पेड़ा पूरी बरफी रोटी साबूदाना,

---

1 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.426

2 (सं.) झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुंद गुप्त निबन्धावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.642-643

3 (सं.) झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुंद गुप्त निबन्धावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.697

सब जाता है इसी पेट में हलवा तालमखाना।

यही पेट चटकर गया होटल, पीग्या बोतलखाना।''[1]

स्वदेशी आंदोलन के द्वारा भी 'भारतमित्र' ने लोगों में चेतना जगाई। 'ताऊ और हाऊ' कविता के माध्यम से स्वदेशी चेतना के साथ-साथ राजभक्तों पर भी व्यंग्य किया गया है। 'स्वदेशी आंदोलन', आशीर्वाद (कविता), आशीर्वाद (निबंध) से लोगों को विदेशी माल का बहिष्कार करने ओर स्वदेशी माल अपनाने की प्रेरणा दी है।

बंग-भंग पर बड़े ही मार्मिक लेख 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुए। बंग-भंग के पश्चात् हुए स्वदेशी आंदोलन का समर्थन करते हुए 'गुप्त जी' कहते हैं-

''चाहे बंग होय सौ भाग, पर न छूटे अपना अनुराग,

भोग विलास सभी दो छोड़, बाबूपन से मुँह लो मोड़।

छोड़ो सभी विदेशी माल, अपने घर का करो ख्याल,

अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ,

भजो बंगमाता का नाम, जिससे भला होय अंजाम।''[2]

एक विशेष बात जो भारतमित्र के माध्यम से गुप्त जी ने कही थी 'अंग्रेजी राज की सीधी-सीधी आलोचना'। गुप्त जी ने भारतमित्र में उन पत्रों की भी आलोचना की जोकि अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति दिखाते थे। विलायत के 'टाइम्स' पत्र ने भारतीयों को नसीहत दे डाली कि उन्हें स्वाधीनता के बारे में सोचना नहीं चाहिए, क्योंकि अंग्रेजों ने भारत को तलवार के दम पर जीता है और भारतीयों पर अपने दल-बल से ही शासन करेंगे। इस पर गुप्त जी भारतमित्र में लिखते हैं, ''पर हम कहते हैं कि यह सफेद झूठ है कि अंग्रेजों ने भारत को तलवार से जीता है- वरचं भारतवासियों की तलवार ने स्वयं यह देश फ़तह करके अंग्रेजों के सुपर्द कर दिया था। 'टाइम्स' क्लाइव

---

1 (सं.) झाबरमल्ल शर्मा, पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, बाबू बालमुकुंद गुप्त निबन्धावली, गौरव गाथा संगम, शाहदरा, दिल्ली, 1994, पृ.689

2 (सं.) के.सी. यादव, बालमुकुंद गुप्त रचनावली, खंड-2, हरियाणा इतिहास एवं संस्कृति अकादमी, हीपा काम्पलेक्स, सेक्टर-18, गुडगांव, 2013, पृ.443

के समय की बात याद करें, उसी ने भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव डाली है। उसकी सेना चन्दा साहब और फ्रांसीसियों से घिर गई थी और रसद निबड़ गई थी तो मालूम है, उसके हिंदुस्तानी सिपाहियों ने यह कहा था, सुनिये साहब! गोरों को भात खाने दीजिये, हम लोग माँड पीकर गुजारा कर लेंगे। टाइम्स को जानना चाहिए कि इस देश के वीरों ने तुम्हारे गोरों को चावल देकर और आप उसका माँड पीकर तलवार बजाई है और यह देश तुम्हारे लिए जीत दिया है। इसी प्रकार हिंदुस्तानियों की मदद से ही अंग्रेजों ने इस देश में अपना अधिकार फैलाया है।''[1] भारतमित्र में बालमुकुंद गुप्त ने 22 महापुरुषों के जीवन वृत्त लिखकर छापे थे। इनमें से कुछ हिंदी के बड़े लेखक एवं साहित्यकार थे। दो प्रसिद्ध साधु- हरिदास एवं रामस्वरुप, एक फारसी के विद्वान- मुंशी सज्जाद हुसैन आजाद, चार बादशाह- अकबर, टोडरमल, शाइस्ता खाँ, शेखसादी, दो यूरोपीय विद्वान- मैक्समूलर, हरबर्ट स्पेन्सर थे। ये चरित चर्चा इन विद्वानों द्वारा समाज को इनके द्वारा किए गए कार्यों को श्रृद्धांजलि है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित 'उर्दू-हिंदी पत्रों का इतिहास' भी धारावाहिक रुप में 'भारतमित्र' में छपा, जिससे उस युग के समाचार पत्रों को जानने का अवसर मिलता है। यह सामाजिक और राजनीतिक क्रांति का आगाज था जो भारतमित्र के माध्यम से बालमुकुंद गुप्त कर रहे थे। श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने 'भारतमित्र' के बारे में लिखा है, ''श्री बालमुकुन्द गुप्त के संपादन में साप्ताहिक 'भारतमित्र' ने उग्र राष्ट्रीयता का पोषण किया और हिन्दी पत्रकारिता के अन्य प्रश्नों पर भी चर्चाएँ चलाईं।''[2]

3.3 भाषा चिंतनः अनस्थिरता विवाद

स्वभाषा

'भारतमित्र' सदैव हिंदी का पक्षधर रहा था। इसका मुख्य कारण यह था कि गुप्त जी के संपादन काल में इस पत्र ने हिंदी भाषा की महत्ता, नागरी लिपि की

---

1 (सं.) मदन गोपाल, भारतीय साहित्य के निर्माताः बालमुकुंद गुप्त, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1990, पृ.60

2 जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ.123

पक्षधरता और व्याकरण की शुद्धता के संबंध में एक आंदोलन सा छेड़ दिया था। 'गुप्त जी' साहित्य का संबंध समाज से मानते थे। साहित्य का जो स्वरुप समाज के लिए हितकारी हो उसी को महत्त्व देते थे। इसी कारण से उन्होंने हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया। परन्तु हिंदी का सरल और सामाजिक रुप उन्हें स्वीकार्य था। हिंदी को वे न तो संस्कृत की तत्सम शब्दावली से अलंकृत करने के पक्ष में थे और न ही अरबी-फारसी के शब्दों से भरने के पक्ष में थे। लिपि के विषय में भी उनका यही मत था। जो लिपि वैज्ञानिक ढंग से अधिक लोगों को स्वीकार्य हो, जो आम लोगों को सुलभ हो, वही लिपि सर्वमान्य होनी चाहिए। हिंदी भाषा की भूमिका, हिंदी भाषा, ब्रज भाषा और उर्दू जैसे लेख हिंदी भाषा के उद्‌भव और विकास पर लिखे गए थे। इनमें कवि चन्द से लेकर भारतेंदु काल तक की हिंदी की यात्रा की कहानी है। भारतमित्र संपादक 'गुप्त जी' ने हिंदी की जन्म स्थली दिल्ली माना है और ब्रजभाषा से इसकी उत्पत्ति माना है। फारसी और ब्रजभाषा के संयोग से हिंदी की उत्पत्ति मानी है। अमीर खुसरो, कबीर, नानक, जायसी आदि कवियों की भाषाओं में भी उर्दू, फारसी, संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्द पाए जाते हैं।

हिंदी भाषा का महत्त्व बताने के लिए 'हिंदी की उन्नति' ओर 'भारत की भाषा' जैसे निबंध 'भारतमित्र' ने पाठकों को दिए। भारतमित्र संपादक 'गुप्त जी' हिंदी भाषा पर एक पुस्तक छापकर पाठकों को उपहार स्वरुप देना चाहते थे, परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने उन्हें यह कार्य नहीं करने दिया। उनकी मृत्यु के बाद उनके मित्रों ने यह पुस्तक छपवाई। जिसमें उनके हिंदी भाषा से संबंधित निबंध संकलित थे। हिंदी के बारे में लोगों को प्रोत्साहित करते हुए गुप्त जी कहते हैं, ''केवल गाल बजाने से भाषा की उन्नति नहीं होती है। भाषा की उन्नति के लिए लेखक चाहिए। लेखक बनने के लिए पाठक चाहिए और पाठक होने के लिए मातृभाषा पर अनन्त-अनुराग, अनन्त प्रेम, अनन्त भक्ति चाहिए। जब तक इन वस्तुओं का अभाव रहेगा तब तक मातृ-भाषा की उन्नति-उन्नति चिल्लाना केवल गाल बजाकर भूख बढ़ाना है।.....

यदि हिंदी पर सचमुच अनुराग हुआ हो तो हिंदी की उन्नति के लिए धन संग्रह कीजिये, सुयोग्य पण्डितों से हिंदी की प्रयोजनीय पुस्तकें लिखवाकर धन से खरीद लीजिये। वह पुस्तकें देश में बाँटकर देशवासियों में हिंदी पढ़ने का शौक फैलाइये तभी मातृभाषा की उन्नति होगी, तभी हिंदी अपने उचित स्थान को प्राप्त कर देशवासियों को अपने फल-फूल, पत्र-पत्रलवों से सुशोभित होकर बहार दिखा सकेगी।''[1] हिन्दी नवजागरण के पुरोधाओं ने हिन्दी को सुगम और सरल बनाने के लिए प्रयत्न किए। गुप्त जी से पहले राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द आरंभ में ही हिन्दी-उर्दू-अरबी से मिश्रित आसान भाषा और एक लिपि के लिए मांग उठा चुके थे। वीर भारत तलवार ने लिखा है, ''कठिन अरबी-फारसी शब्दावली का विरोध करते हुए भी राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी-उर्दू को दो अलग भाषाएँ न मानकर राज-काज की भाषा और शिक्षा के माध्यम के लिए सिर्फ उनकी लिपि एक करने की माँग उठाई।''[2]

गुप्त जी ने सदैव इस बात का समर्थन किया कि कोई एक भाषा ऐसी हो जिसमें देश के सभी प्रांतों के लोग आपस में बात कर सके। क्षेत्रीय विषमताओं के चलते लोग हिंदी से दूर भागते हैं। परन्तु हिंदी को यदि लोग अपना लें तो ये विषमताएँ दूर हो सकती हैं। 'गुप्त जी' कहते हैं- ''सचमुच भारतवर्ष के लिये एक देश व्यापी भाषा की बहुत भारी जरुरत है। भारतवासियों के पास इस समय ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें भारत के सब प्रांतों के लोग बात कर सके। इसी से इन्डियन नेशनल कांग्रेस में अंग्रेजी से काम लिया जाता है। अंग्रेज इस समय अंग्रेजी को संसार व्यापी भाषा बना रहे हैं और सचमुच वह सारी पृथ्वी की भाषा बनती जाती है। वह बने, उसकी बराबरी करने का हमारा मुकद्दर नहीं है, पर तो भी यदि हिंदी को भारतवासी सारे भारत की भाषा बना सके तो अंग्रेजी के बाद दूसरा दर्जा पृथ्वी पर इसी भाषा का होगा।''[3]

---

1 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.31
2 वीर भारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ.115-116
3 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.34

अंग्रेजी के खतरे को गुप्त जी ने कितना पहले ही भाँप लिया था और चेतावनी भी दी थी। इसलिए हिंदी भाषा को सम्पूर्ण भारत की भाषा बनाने का समर्थन करते हैं। हिंदी में वह सभी गुण है जिससे वह सारे भारत की संपर्क भाषा बने।

स्वलिपिः-

सन् 1900 ई0 में जब अंग्रेजी सरकार ने 'नागरी' को भी कचहरियों की भाषा बनाने का फैसला लिया तो उर्दू वालों को लगा जैसे उनके साथ अन्याय हो गया। उर्दू के समर्थन में संस्थाएँ और प्रचारक सभाएँ बनी। हिंदी और उर्दू वालों के बीच मतभेद होने आरंभ हो गए। इसी विवाद को शांत करने के लिए 'भारतमित्र' ने जी-जान लगा दी। कुछ समाचार पत्र उर्दू का समर्थन कर रहे थे और कुछ हिंदी का। परन्तु 'भारतमित्र' ने दोनों के बीच मध्यस्थता स्थापित करने का प्रयास किया। उदाहरण और वैज्ञानिक तर्क देकर यह विवाद सुलझाने का प्रयास किया। नागरी अक्षर, मुसलमानी नाराजी, उलटे अक्षर, उलटी दलील, गरारेदार पण्डित, उर्दू को उत्तर (कविता) जैसी रचनाएँ लिखकर हिंदी का समर्थन वैज्ञानिक रीति से किया। हिंदू-उर्दू विवाद पर भारतमित्र संपादक गुप्त जी की टिप्पणी थी- ''यदि इस विषय को लेकर केवल हिंदू-मुसलमान के मेल में कुछ झमेल पड़े तो अच्छी बात नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा वालों को चाहिए कि जब तक यह नया बखेडा शांत न हो तब तक खूब शांति से काम करें। झूठ-मूठ के आनन्द में उन्मत होने की कोई जरुरत नहीं है। मुसलमानों को यह जानना चाहिए कि जिस भाषा को वह उर्दू कह रहे हैं वह हिंदी से अलग नहीं है। उर्दू आदि के कवियों ने उस भाषा को हिन्दवी कहकर पुकारा है।''[1]

विरोधी वर्गों ने देवनागरी पर व्यापारी वर्ग की आवश्यकताओं के पूर्ण नहीं करने का आरोप लगाया था। इसी आरोप का खंडन करते हुए 'गुप्त जी' ने भारतमित्र में लिखा था कि सिर्फ दिल्ली, कलकत्ता के ही नहीं लखनऊ के मुसलमान भी अपना

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.5 (गुप्त जी के निबंध)

बहीखाता नागरी अक्षरों में लिखते हैं। देवनागरी को धर्म के साथ जोड़ने वालों को तर्क दिया था, ''देवनागरी किसी भाषा का नाम नहीं है, वह तो केवल अक्षरों का नाम है। कोई पण्डित ऐसा नहीं है जो मुसलमानों को देवनागरी अक्षर सिखाने से इनकार करे। पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही हजारों मुसलमान शुद्ध देवनागरी लिख-पढ़ सकते हैं। केवल पढ़ते ही नहीं, स्कूल मास्टर बनकर कितने ही हिंदुओं को पढ़ाते हैं।''[1]

उर्दू समर्थक और हिंदी विरोधियों को भारतमित्र संपादक ने इस प्रकार से तर्क दिए थे कि जिनसे हिंदी की वैज्ञानिकता सिद्ध की जा सके। लखनऊ में देवनागरी भाषा के विरोध में जलसा हुआ था तो वहाँ के नवाब ने हिंदी और उर्दू को एक समान बताया था। भारतमित्र का उत्तर था- ''नवाब साहब कोई ऐसी तरकीब बतायें कि जिससे 'जोती प्रसाद' लिखने में उर्दू में 'जूती प्रसाद' न पढ़ा जाए, रूम लिखने में इटली की राजधानी 'रोम' न पढ़ा जाए, 'चीन' लिखने में 'चैन' न पढ़ा जाए।''[2]

गुप्त जी जन सामान्य द्वारा बोले जाने वाली सरल, सहज और गतिशील भाषा के समर्थक थे, केवल पढ़े-लिखे लोगों द्वारा बोले जाने वाली साहिबाना भाषा के पक्ष में नहीं थे। इसलिए वे तर्क देते हैं, ''हिंदी वालों को इस बात की चेष्टा करनी होगी कि उर्दू वाले फारसी-अरबी को छोड़कर थोड़ा हिंदी की ओर झुके और हिंदी वाले कुछ उर्दू की ओर बढ़ें।''[3] राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भी ऐसी भाषा की हिमायत की थी, जिसमें हिन्दी और उर्दू की आसान शब्दावली मिश्रित हो, जिसे जनसामान्य अपनी बोली समझ सके। ''शिवप्रसाद ने उर्दू भाषा का विरोध नहीं किया। शिक्षा विभाग में बहुत व्यवहारिक कारणों से उन्होंने भाषा का रूप ऐसी बोलचाल का रखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों मिलकर एक हो जाती थीं। लेकिन वे जानते थे कि नागरी लिपि

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.5-6 (गुप्त जी के निबंध)

2 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.299

3 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.300

को लागू किये बिना अदालतों में चलने वाली राजभाषा उर्दू के अरबी-फारसी शब्दांडबर से छुटकारा नहीं मिल सकता।''[1]

एक लिपि का प्रश्न भी भारतमित्र ने उठाया था। भाषा के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न लिपि का है। अंग्रेजों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मतभेद बढ़ाने के लिए हिंदी को हिंदुओं की तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा बताया, परन्तु भारतमित्र ने सदैव इस नीति का विरोध किया। हिंदी के पक्ष में अथवा उर्दू के विरोध की उसकी कोई मनोग्रंथी नहीं थी। परन्तु बहुसंख्यक जनता की सुविधा के लिए देवनागरी लिपि का समर्थन कर रहा था। देवनागरी लिपि की समर्थन में भारतमित्र ने कई लेख प्रकाशित किए।

भारतमित्र का विचार था कि भारत की सभी भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जाएं। यह विचार उस मत का समर्थन था जिसमें भारतीय भाषाओं के सभी पत्रों को एक ही लिपि में लिखा जाए। कलकत्ता हाईकोर्ट के पूर्व जज सर गुरुदास बनर्जी तथा कलकत्ता हाईकोर्ट के तत्कालिक न्यायधीश शारदाचरण मित्र ने इसी मत का समर्थन किया था। इसी संदर्भ में शारदाचरण मित्र का लेख 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था। अपने विचार को मूर्त रुप देने के लिए जज साहब ने कलकत्ता में 'एक लिपि विस्तार' परिषद् की स्थापना की और 'देवनागर' नाम का एक मासिक पत्र निकाला था। इस पत्र में एक पृष्ठ पर मूल भाषा पर सामग्री छपती थी और दूसरे पृष्ठ पर वही सामग्री देवनागरी लिपि पर छपती थी। 'गुप्त जी' ने इस कार्य को पूर्ण समर्थन दिया। कानपुर के मासिक पत्र 'ज़माना' में 'हिन्दुस्तान में एक रसमुलखत' नामक एक लेख लिखा। जिसमें एक लिपि विस्तार परिषद् और देवनागर पत्र की लिपि के संदर्भ में सराहना की। इसी तरह का एक पत्र 'प्रवासी' नाम का बंग भाषा से था परन्तु उसमें हिंदी, बंगला, मराठी और गुजराती आदि भाषाएँ होती थी। प्रवासी को लेकर ही 'भारत की भाषा' नामक लेख 'भारतमित्र' में सन् 1904 ई0 में छपा था।

---

1 वीर भारत तलवार, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ.62

इसी तरह के लेख देवनागरी अक्षर, उलटे अक्षर, एक लिपि की जरुरत, नागरी अक्षर आदि लेख लिखे। देवनागरी लिपि को सबसे प्राचीन लिपि 'भारतमित्र' ने तर्कों के आधार पर सिद्ध किया। नागरी लिपि की महत्ता बताते हुए भारतमित्र संपादक गुप्त जी कहते हैं, ''देवनागरी अक्षर भारतवर्ष में सबसे उत्तम अक्षर है। भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत इन्हीं अक्षरों में लिखी जाती है। सीखने में भी यही सबसे जल्द आते हैं।''[1]

परन्तु उर्दू समर्थकों का तर्क था कि नागरी अक्षरों में लिखने से उर्दू भाषा की शुद्धता समाप्त हो जाएगी। इसी तर्क का उत्तर देते हुए भारतमित्र सम्पादक 'गुप्त जी' का कहना था- ''इब्रानी भाषा से यह अक्षर अरबी में आये। परन्तु 'क्या आये' न उनमें 'य' है न 'त' न 'च' है, न 'ड' है न 'ड़' न 'ग' है। फारसी वालों ने उनकी बनावट को जरा सीधा करके उसमें 'चे' 'पे' 'गाफ' घुसेडा है। परंतु बाकी की कसर रह गयी। पीछे आयी उर्दू। उसके लिए तो देवनागरी के सभी वर्णों की आवश्यकता थी, इसलिए उर्दू वालों ने एक 'हे' गढ़ी 'डाल' बनाई और 'डे' निकाली। परन्तु उससे भी क्या हो सकता था 'घ' रह गया। छ, झ, ठ, ढ़ थ इत्यादि। कितने ही व्यंजन रह गए। 'ण' की आवाज उर्दू में नहीं है। 'प्रचारिणी' लिखने में वह 'परचारिनी' लिखेंगे।''[2]

अनस्थिरता विवादः-

उस युग के पत्रों का महत्व हिंदी भाषा की स्थापना में ही नहीं, बल्कि हिंदी भाषा को शुद्ध करने में भी रहा है। उस युग के चलने वाले विवादों से हमें इसकी जानकारी मिलती है। अनस्थिरता विवाद, शेष विवाद आदि ऐसी आलोचनाएँ थीं जिनके उदाहरण आज भी दिये जाते हैं। 'सरस्वती' के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

---

1 (संपादक) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.37

2 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.7 (गुप्त जी के निबंध)

को ऐसा प्रतीत हुआ कि अब तक हिंदी लेखन में अनेक अभाव रहे हैं। उन्होंने भारतेंदु और उनके साथियों की व्याकरण संबंधी भूलें 'भाषा और व्याकरण' नामक एक लम्बा लेख लिखकर गिनवाई। द्विवेदी जी को लगा कि हिंदी के मानक रुप का अभी तक अभाव है। गद्य के मानक रुप को स्थिर करने के लिए सर्वमान्य व्याकरण की आवश्यकता है। गुप्त जी जो भारतेंदु को अपना गुरु मानते थे उन्होंने प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया कि ये भूलें प्रेस की हो सकती हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने जो संशोधन किया था गुप्त जी उससे सहमत नहीं थे। आत्माराम के नाम से दस लेख लिखकर हिंदी के शीर्ष आचार्य की आलोचना कर डाली। द्विवेदी जी के समर्थकों ने 'गुप्त जी' के वंश तक पर आक्रमण कर डाला। गुप्त जी की आलोचनाओं पर 'हिन्दी बंगवासी' में गोविन्द नारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें-टें' शीर्षक नाम लेख लिखा। इस पर जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने द्विवेदी जी पर टिप्पणी दी। ''अधिकांश लेखक और कवि लिखने के समय व्याकरण को ताक पर रख देते हैं और डंके की चोट पर उसका बहिष्कार करते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं कि हिन्दी में अभी व्याकरण नहीं है। 'यहाँ उनका आशय द्विवेदी जी के लेख से था।' पर यह उनकी सरासर भूल है, हिन्दी में व्याकरण था और है, नहीं है तो उसके मानने वाले।

जब श्री द्विवेदी जी ने 'अनस्थिरता' के प्रयोग को सही ठहराया तो उन्होंने 'भारतमित्र' में 'साहित्य में हाईकोर्ट' शीर्षक एक लेख लिखा।..... .... अब द्विवेदी जी अनस्थिरता की हिमायत किस प्रकार करते हैं, वह सुनिए- अस्थिरता की जगह अनस्थिरता शब्द अनुचित नहीं। जिसमें अतिशय अस्थिरता है, उसके लिए अनस्थिरता का ही प्रयोग हम अच्छा समझते हैं- किस व्याकरण की रू से? आप आगे चलकर और भी कहते हैं- संस्कृत व्याकरण से यदि अशुद्ध है तो हुआ करे, किन्तु हम हिन्दी लिख रहे हैं। क्यों महाराज जी! आप जैसे संस्कृत के विद्वान के योग्य यह उत्तर हुआ? बंगवासी के 'टें-टें' वाले यह बुद्धिमता भले ही दिखलावें, पर आपके मुँह से यह बात नहीं निकलनी चाहिए। अच्छा, यह बताइए कि

'रिषि' 'रिनि' आदि लिखने के कारण पं. प्रताप नारायण की संस्कृतज्ञता पर तो इतनी दीर्घ शंका हो गई, पर अपनी अनस्थिरता पर आपको लघुशंका नहीं हुई? धन्य न्याय! अनरिनि की तरह अनस्थिरता शुद्ध है तो अनमंगल, अनशुभ, अनकाल, अनपूर्ण, अनपरिपक्व शब्द मजे में व्यवहृत होने चाहिए। खैर, चाहे जो हो 'अनस्थिरता' ने आपकी विद्वता, उदारता आदि की थाह लगा दी। अब चाहे आप हाईकोर्ट की कौन कहे, प्रीवि कौंसिल भी चले जाएं तो बुंद से भेंट नहीं होगी।''[1] अंत में द्विवेदी जी को 'कल्लू अलहत' नाम से 'सरगो नरक ठिकाना नहीं' लिखकर विवाद शांत करना पड़ा।

द्विवेदी जी भारतेंदु कालीन लेखकों की रचनाओं में दोष दिखाकर 'भाषा की अनस्थिरता' का नाम दिया तो 'गुप्त जी' ने अनस्थिरता को अशुद्ध बताकर द्विवेदी जी की छोटी-छोटी कमियाँ वाक्यों में दिखाई। आत्माराम के नाम से दस लेखों में आचार्य द्विवेदी के भाषा और व्याकरण लेख की आलोचना की। यह आलोचना कम और भाषा का शुद्धिकरण अधिक था। जिन गलतियों को द्विवेदी जी भूल से या आदतन लिख जाते थे, उनकी तरफ हिंदी समाज का ध्यान आकर्षित किया। ऐसा नहीं है कि गुप्त जी अपने अहम और दंभ का मिथ्या प्रदर्शन करने के लिए द्विवेदी जी से उलझ पड़े थे। द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' नामक निबंध में गुप्त जी को जहां गलतियाँ दिखाई पड़ी वहीं उन्होनें टोक दिया। व्यंग्य कला में तो गुप्त जी निपुण थे। अनस्थिरता शब्द से चलकर द्विवेदी जी बहुत सी त्रुटियों को वे पकड़ते चले गये और उनकी तरफ हिंदी समाज का ध्यान आकर्षित किया। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है, ''इस विवाद के लिए अंशतः द्विवेदी जी उत्तरदायी थे।..... यहाँ व्यंग्य के लिए इतनी बढ़िया सामग्री थी कि बालमुकुन्द गुप्त उसका उपयोग न करते तो यह भी अक्षम्य अपराध होता। द्विवेदी जी ने जिन मुख्य बातों पर ध्यान केन्द्रित करना उचित समझा

---

1 सम्मेलन पत्रिकाः जन्मशती विशेषांक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, स्वं पंडित जगन्नाथ त्रिवेदी की व्याकरणिक मान्यताएँ, पृ.30-31 उद्धृत जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ.113-114

था, उनके साथ ऐसी साधारण बातें मिला दी थीं, कि लेख का मूल उद्देश्य का आँखों से ओझल हो जाना अनिवार्य था। वह यदि समकालीन लेखकों की रचनाओं से ऐसे उदाहरण देते तो लोग बुरा न मानते। पर उन्होंने उदाहरण चुने, सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से, फिर शिवप्रसाद से, राधाचरण गोस्वामी और काशीनाथ खत्री से। लोगों को ऐसा लगा कि वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन साहित्यकारों पर आक्रमण कर रहे हैं। इसलिए जब बालमुकुंद गुप्त ने द्विवेदी जी पर आक्रमण किया तब उनके साथ हिंदी के बहुत से लेखक हो गये और बालमुकुन्द के लेखों में केवल उनका अपना रोष नहीं वरन् साधारण हिंदी पाठकों का भी रोष व्यक्त हुआ।''[1] गुप्त जी ने द्विवेदी जी के बारे में कहा है- ''आपका पहला ही वाक्य है- मन में जो भाव उदित होते हैं, वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं।' क्यों जनाब, भाषा की सहायता से मन के भाव दूसरों पर प्रकट किये जाते हैं या भाषा से? आप टाँगों की सहायता से चलते हैं या टाँगों से? आँखों की सहायता से देखते हैं या आँखों से? कानों की सहायता से सुनते हैं या खास कानों ही से?..... जो अपनी बोली जानते हैं वह इस वाक्य को इस तरह लिखते- 'मन में जो भाव उठते हैं, वह भाषा से दूसरों को सुना दिये जाते हैं' अथवा मन की बात बोलकर दूसरों को जता दी जाती हैं।''[2]

आचार्य द्विवेदी का मत था कि हिंदी में एक सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना है। इसलिए पुरानी सौ-पचास साल पुरानी भाषा आज की भाषा से नहीं मिलती। इसी कारण वे मानते थे कि इससे भाषा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई। परंतु गुप्त जी का मानना था कि पुरानी से पुरानी हिंदी आज भी समझी जाती है। सूरदास, रैदास, कबीर आदि संतों की हिंदी आज भी समझी जाती और बोली जाती है। गुप्त जी ने

---

1 डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.265

2 (संपादक) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.75

द्विवेदी जी द्वारा अनावश्यक रुप से 'को' के प्रयोग पर विरोध जताया। गुप्त जी कहते हैं- ''द्विवेदी जी को 'को' की बड़ी बीमारी है, ऊपर के वाक्य में है- 'बहुत से वाक्यों को न समझ सके' सीधी सी बात है- 'बहुत से वाक्य न समझ सके'। 'को' इसमें फालतू है। जिनको हिंदी जानने वालों की सोहबत नहीं, वह इसी तरह 'को' की भरमार करते हैं। अर्द्ध को बनना उनकी आदत हो जाती है।''[1]

गुप्त जी द्वारा 'को' के अनावश्यक प्रयोग पर आपत्ति किये जाने के बाद द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में सुधार किया और गुप्त जी को भी नसीहत दी, ''हमारे जुबादाँ समलोचक फ़रमाते हैं कि पंजाब, युक्त प्रदेश, दिल्ली, आगरा, काशी, पटना के लेखक 'करें', 'हमें' बोलते और लिखते हैं 'करैं' 'सकैं' नहीं। बेहतर है, हम अपनी देहाती चाल को छोड़ने की कोशिश करेंगे, पर आप भी थोड़ी सी उदारता दिखाइए। उदारता यह कि गुप्त जी सहानुभूती, अप्रम्पार, स्मर्ण आदि लिखना छोड़े।''[2]

द्विवेदी जी का मत था कि व्याकरण की दृष्टि से भाषा बोली और लिखी जानी चाहिए परंतु गुप्त जी का मत था कि आम-जन की भाषा व्याकरण के अनुसार नहीं बोली जाती। इसी पर व्यंग्य करते हुए भारतमित्र संपादक ने कहा था- ''द्विवेदी जी एक काम अच्छा करते हैं कि सबको व्याकरण की दृष्टि से देखते हैं। वह चाहते हैं कि लोगों में कोई बात व्याकरणा विरुद्ध न हों। चाहे छींके, चाहे खांसे, चाहे खायें, चाहे पियें, रोये या हँसे, व्याकरण का सदा ध्यान रखें।''[3] द्विवेदी जी के अनुसार भाषा व्याकरण सम्मत होनी चाहिए जिससे उसकी एकरूपता निर्धारित की जा सके, परन्तु गुप्त जी का मानना था कि भाषा में देशी भाषाओं के शब्द अवश्य हों जिससे वह बोलचाल की भाषा लगे। वे मुहावरेदार भाषा को महत्व देते थे। डॉ. रमेश कुमार का

---

1 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.32 (गुप्त जी के निबंध)

2 डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.266

3 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.42

कहना है, ''व्यक्तिगत आलोचना-प्रत्यालोचना के बीच भाषा संबंधी जो कुछ तथ्य उभरकर आए उन पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गुप्त जी और द्विवेदी जी दोनों दो परम्पराओं के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। गुप्त जी उर्दू, फारसी और अरबी की परम्परा में रचे-बसे साहित्यकार हैं जबकि द्विवेदी जी संस्कृत की परम्परा के अनुवर्ती आचार्य है। अतः भाषा संबंधी दोनों की मान्यताओं में भी पर्याप्त अन्तर है। फिर भी कई मुद्दों पर दोनों के मत में पर्याप्त समानता भी है। द्विवेदी जी और गुप्त जी में यही विरोध और एकता के स्वर हैं।''[1] द्विवेदी जी ने राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के पुस्तक में त्रुटियाँ निकाली तो गुप्त जी ने 'राजा शिवप्रसाद की इसलाह' नामक व्यंग्यात्मक लेख लिखा। राधाचरण गोस्वामी के मासिक पत्र 'भारतेंदु' में द्विवेदी जी 'वह' का बहुवचन 'वे' रखने का सुझाव दिया। परंतु गुप्त जी का मत था कि 'वह' शब्द को एकवचन और बहुवचन दोनों में रखा जाये। द्विवेदी जी पर व्यंग्य करते हुए गुप्त जी कहते हैं- ''विपद तो यह है कि द्विवेदी जी न भाषा जानते हैं, न व्याकरण और टाँग अड़ाते हैं दोनों में 'जब आपको' किसी देश की बोली की ही खबर नहीं है तो उसके व्याकरण के सुधार के लिये क्यों दौडते हैं? 'वह' और 'वे' की बहस से व्याकरण भरे पड़े हैं।''[2]

इसी प्रकार और छोटी-बड़ी गलतियाँ जो आचार्य द्विवेदी जी ने की थी उस पर ध्यान आकर्षित करते हुए गुप्त जी ने कहा- ''मुहाविरा, गलत लिखा गया है, इसका उच्चारण पूछकर द्विवेदी जी इसे सही लिखे तो अच्छा। 'मुहाविरे' की परिभाषा की जगह 'मुहाविरा की परिभाषा' चाहिये। यह एक मोटी भूल है, 'समझ ली जायेगी' के मुकाबिले में रह 'जाय' ठीक नहीं। या तो पहले ही 'गी' न चाहिये, नहीं तो पीछे भी एक 'गी' जोड़ने की जरुरत है।''[3] इस विवाद का परिणाम हितकारी हुआ। गुप्त जी के

---

1 डॉ. रमेश कुमार, नवजागरण और हिंदी आलोचना, नेहा प्रकाशन, लक्ष्मीनगर, दिल्ली, 2012, पृ.199

2 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.48-49

3 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.51 (गुप्त जी के निबंध)

साथ चले इस ऐतिहासिक विवाद के पश्चात् द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में सुधार किया और साथ-साथ हिंदी में ऐसे शब्द प्रयोग करने को कहा जिन्हें अधिक से अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस विवाद के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, ''इस बार विवाद से अनेक हिंदी लेखक अपने प्रयोगों के प्रति अधिक सतर्क हुए। स्वयं द्विवेदी जी अपने गद्य लेखन के प्रति और अधिक सचेत हुए। निराला के साहित्यिक जीवन में जो महत्त्व 'भावों की भिडन्त' लेख का था, उससे मिलता-जुलता महत्त्व द्विवेदी जी के जीवन में अनस्थिरता वाले विवादों का हुआ। उनके संपादन काल को अभी दो ही साल बीते थे। यह विवाद उनके सम्पादकीय जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ, यह अच्छा हुआ। 1905 के बाद सरस्वती की भाषा वैसी ही नहीं रही जैसी वह 1905 से पहले थी।''[1]

द्विवेदी जी के वाक्य लम्बे-लम्बे और संस्कृत निष्ठ होते थे। वे वाक्यों में अर्थात् लगाते थे परंतु गुप्त जी के मत में भाषा सरल, सहज, मुहावरेदार और प्रवाहमान होनी चाहिए जो आम लोगों को समझ में आ सके। इसी बात को गुप्त जी ने इस प्रकार कहा है- ''भाषा का एक दोष जटिल लिखना भी है। द्विवेदी जी मानों इसके आचार्य हैं। दास आत्माराम को यही बात समझाते-समझाते कई सप्ताह लगा गये। जिस वाक्य में अर्थात् की जरुरत पड़ती है उसको सरल, स्वच्छ भाषा लिखने वाले कभी पसंद नहीं करते। पर द्विवेदी जी का काम बिना अर्थात् के चलता ही नहीं है।''[2]

'गुप्त जी' ने अनस्थिरता संबंधी लेख 'द्विवेदी जी' की आलोचना में लिखे। उनका उद्देश्य सिर्फ व्याकरण और भाषा की शुद्धता से था न कि किसी गर्व या अहं का प्रदर्शन करना। गुप्त जी ने कहा- ''शुद्ध मन और नेक नीयती से जो काम किया

---

1 डॉ. रामविलास शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.266

2 (सं.) डॉ. नत्थन सिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2008, पृ.60-61

जाता है, आत्माराम की समझ में उसके लिए किसी माफी-नामे की जरुरत नहीं है। सच्चे को कसम खाने की जरुरत नहीं है। यदि द्विवेदी जी ने हिंदी लेखकों के दोष नेकनीयती से दिखाए हैं तो आदि और अंत में माफी किस कसूर के लिए माँगी? हो सके तो द्विवेदी जी यह बात आत्माराम को समझा दें। आत्माराम ने जो कुछ लिखा है, बडी नेकनीयती और साफदिली से लिखा है। हिंदी के पुराने और नये सुलेखकों और सेवकों की, उनके दर्जे के अनुसार जैसी कुछ इज्जत उसके जी में है उसी हिसाब से एक रत्ती भी कम इज्जत वह द्विवेदी जी की नहीं करता। उसने जो कुछ लिखा है द्विवेदी जी के लेख पर लिखा है, उनकी लेख प्रणाली पर लिखा हे और हिंदी की समझ पर लिखा है, उनके ऊपर कुछ नहीं लिखा।''[1] गुप्त जी ने द्विवेदी जी पर जो भी टिप्पणियाँ दीं वह उनकी लेख प्रणाली पर थी। व्यक्तिगत स्वार्थ के चलते या अपने अहम का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने द्विवेदी जी पर मिथ्या आरोप नहीं लगाए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन लेखकों को गुप्त जी अपना गुरु मानते थे। इसलिए जब द्विवेदी जी ने उनकी लेख प्रणाली पर आरोप लगाए तो गुप्त जी ने इनका जवाब देने के लिए इस विवाद का आरम्भ किया। डॉ. रामविलास शर्मा ने गुप्त जी के इस अनस्थिरता संबंधी विवाद पर टिप्पणी देते हुए कहा है, ''बालमुकुन्द गुप्त ने हरिश्चन्द्र के तेज, तीखे और बेधड़क लिखने की तारीफ की थी ये गुण उनमें स्वयं जरा भी कम न थे, कुछ ज्यादा भले ही हों। उन्होनें भारतेन्दु की रक्षा के लिए यों व्यंग्यशास्त्र उठाया है कि मानो किसी ने पवित्र देवमन्दिर को भ्रष्ट कर दिया हो या उनके गुरु को ही गाली दी हो। भारतेन्दु की सम्मान रक्षा बालमुकुन्द जैसे लेखक अपना परम कर्त्तव्य समझते थे।''[2]

---

1 (सं.) सत्यप्रकाश मिश्र, बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ.104

2 डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.58

इस विवाद के कई साल पश्चात् आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जब महावीर प्रसाद द्विवेदी जी से मिलने गए तो द्विवेदी जी ने अपने मन के उद्‌गार वाजपेयी जी से कहे। यह बात सन् 1931 या 1932 की है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने अपने संस्मरण 'समालोचक प्रतिभा एवं कर्त्तव्यनिष्ठा' में द्विवेदी जी के विचारों के बारे में लिखा है, ''भैया, गलती से वह 'अनस्थिरता' शब्द निकल गया था। मैं उस समय भी उसे गलत समझता था और आज भी गलत समझ रहा हूँ। गलत न सही, प्रवाह प्राप्त तो वह है ही नहीं। प्रवाह ही भाषा में बड़ी चीज है। मैं तुरन्त स्वीकार कर लेता, यदि उस तरह कोई पूछता-कहता। बात कुछ दूसरे ढंग से कही गयी। यह भी नहीं कहा गया कि 'अनस्थिरता' सही है या गलतय बल्कि कहा यह गया कि 'द्विवेदी जी अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करें'। सो इस ललकार का जवाब मैंने दिया। परन्तु व्याकरण से सिद्ध हो जाने पर भी कोई शब्द भाषा में चल नहीं जाता, यदि प्रवाह प्राप्त न हो।..... और भैया, मुझे भी अपनी शक्ति के अनुसार हिंदी का कुछ काम करना था। वैसा काम करने के लिए साख की भी जरुरत है। प्रभाव उखड़ गया, तो सब गया। जिस ढंग से और जिस रूप में वह विवाद उठाया गया था, उसे मैंने उचित न समझा। उस समय मैं दब जाता, तो लोग खिल्ली उड़ाते और मैं उस रूप में कुछ न कर पाता।''[1]

द्विवेदी जी के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे जान-बूझकर इस विवाद में पड़े थे। अपनी साख को बनाये रखने के लिए उन्होंने यह विवाद आगे बढ़ाया था। वहीं गुप्त जी अपनी बात पर आरंभ से अन्त तक कायम रहे। सही को सही और गलत को गलत स्पष्ट रुप से कहा बिना अपने मान-सम्मान की परवाह किये बिना।

---

1 (संपादक) झाबरमल्ल शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1950, पृ.410-411